निबन्ध-गरिमा

(उत्कृष्ट साहित्यिक निबन्धों का संकलन)

सम्पादक :

नवलकिशोर एम० ए०

प्राध्यापक हिन्दी विभाग

उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

जयपुर पब्लिशिंग हाउस

चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्रकाशक :

रामचन्द्र अग्रवाल
जयपुर पब्लिशिंग हाउस
चौड़ा रास्ता, जयपुर

मूल्य २.०० मात्र

मुद्रक :
मातृभूमि प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर

दो शब्द

प्रस्तुत संकलन में वैज्ञानिक-शास्त्रीय लेखों और कलात्मक निबन्धों का चयन है। संपादक का लक्ष्य अधिक से अधिक साहित्यिक लेखों और यथासम्भव सभी प्रचलित निबन्ध-प्रकारों को सम्मिलित करने का रहा है। विज्ञान, स्वास्थ्य सामाजिक समस्या, खोज, व्यंग्य-विनोद, सांस्कृतिक समस्या और साहित्य से सम्बन्धित लेख और निबन्ध इस संग्रह में हैं। हिन्दी के सुप्रतिष्ठ लेखकों की इन रचनाओं को चुनते समय यह विस्मृत नहीं किया गया है कि यह संकलन विश्वविद्यालय की प्रवेशिका और प्राथमिक कक्षाओं के हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है। अतः ये सुबोध-स्तर के ही निबन्ध हैं, किन्तु सुबोधता स्तरहीनता का पर्याय नहीं है। अपेक्षित-स्तर के अभाव में हिन्दी-शिक्षा को शोचनीय स्थिति का सामना करना होगा। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत निबन्ध संकलित किए गए हैं। अन्त में प्रस्तुत संकलन में जिन कृतियों से और जिन पत्र-पत्रिकाओं से निबन्ध संकलित किए गए हैं, उन कृतिकारों और संपादकों के प्रति आभारप्रदर्शन मेरा कर्त्तव्य है।

—सम्पादक

राष्ट्र गीत

जन-गण-मन--अधिनायक जय हे,

भारत-भाग्य-विधाता।

पजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा,

द्राविड़, उत्कल, बंगा।

विन्ध्य, हिमाचल, यमुना, गंगा,

उच्छल जलधि--तरंगा।

तव शुभ नामे जागे,

तव शुभ आशिप माँगे।

गाये तव जय गाथा।

जन गण--मंगलदायक जय हे!

भारत-भाग्य-विधाता।

जय हे! जय हे! जय हे!

जय जय जय, जय हे!

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

[१]

निबन्ध

भारतीय साहित्य में निबन्ध का प्रादुर्भाव पाश्चात्य प्रभाव के परिणाम-स्वरूप हुआ, पश्चिम में भी वह एक नातिप्राचीन साहित्य विधा नहीं है, किन्तु वह गद्य-साहित्य का महत्वपूर्ण और विशिष्ट अंग है।

परिभाषा

निबन्ध शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ विशेष रूप से बँधा हुआ है। संस्कृत साहित्य में तर्क-प्रतिष्ठित धर्म-सम्बन्धी विशिष्ट विवेचनों के प्रसंग में इसका व्यवहार होता था,[1] किन्तु अब इसका प्रयोग अंग्रेजी Essay (एसे) के पर्याय के रूप में होता है। 'एसे' का अर्थ होता है-प्रयास। निबन्ध एक ऐसी रचना का बोधक है, जिसमें किसी भी विषय को लेकर लेखक अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। निबन्ध के प्रवर्तक मौन्टेन की रचनाओं में तारतम्य और शृंखला का अभाव था, मुख्य सूत्र का आत्यन्तिक त्याग न होने पर भी विषयान्तर होता था, किन्तु ये बातें उसकी आत्माभिव्यक्ति में सहायक थीं।[2] इस नये साहित्य-रूप का सौन्दर्य इतना अपूर्व था कि उसकी परम्परा स्वतः चल पड़ी और इस प्रकार निबन्ध की साहित्यांग के रूप में प्रतिष्ठा हो गई। मौन्टेन की परम्परा के निबन्धों को ही आदर्श मानते हुए सुप्रसिद्ध अंग्रेज समीक्षक डॉ० जान्सन ने निबन्ध की जो परिभाषा दी थी उसके अनुसार वह 'चिन्तन की एक उच्छिन्न प्रणाली है', वह एक 'अनियमित व अपूर्ण' रचना है, मर्यादित और व्यवस्थित कृति नहीं। किन्तु निबन्ध का यह आदर्श आगे मान्य नहीं रहा,

---

१. धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले तर्क-वितर्कात्मक लेखों को निबन्ध कहते थे। इनमें प्रमाणों के एकत्र करने के उपरान्त उनका 'निबन्धन' होता था।

२. मौन्टेन का कथन था कि 'अपने निबन्धों का विषय मैं स्वयं हूँ।'

यद्यपि लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उसकी मौलिक विशेषता है तथापि उसका सर्वथा अमर्यादित और अव्यवस्थित होना आवश्यक नहीं। अंग्रेजी कोष में जो नई परिभाषा मिलती है उसके अनुसार निबन्ध किसी विषय-विशेष या विषयांग पर लिखी गयी मर्यादित आकार की रचना है, मूल रूप में पूर्णता का अभाव जिसमें अभिप्रेत था; किन्तु अब न्यूनाधिक उदात्त-शैली से समलंकृत, पर विस्तार में सीमित रचना के लिए उसका प्रयोग होता है।' स्व० बाबू गुलाबराय ने निबन्ध की सभी विशेषताओं को ध्यान में रखकर यह परिभाषा दी है :

"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया जाता है।"

लेखक का व्यक्तित्व और निबन्ध

गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया—गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो आचार्य शुक्ल के शब्दों में निबन्ध गद्य की कसौटी है। गद्य का सर्वाधिक परिष्कृत रूप निबन्ध में ही उपलब्ध होता है। निबन्ध गद्य के अन्य रूपों से जो विशिष्ट है उसका कारण यह है कि उसमें लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति सबसे अधिक होती है और इस दृष्टि से वह गीत-काव्य के निकट है। यदि किसी रचना में केवल विचार हैं, अन्य मतों का सार है, बहुत सी सामग्री संकलित है, किन्तु लेखक का 'आत्म' अनुपस्थित है तो वह रचना निबन्ध नहीं है, उसकी गणना शास्त्रादि के अन्तर्गत ही होगी। निबन्धकार के व्यक्तित्व से सम्पन्न होना निबन्ध की अनिवार्य विशेषता है।

साहित्य का मूल प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति भले ही न हो, किन्तु चूंकि साहित्यकार व्यापक सत्य को निजी करके देखता है और निजी दृष्टि को फिर साधारण बनाता है, अतः आत्माभिव्यक्ति अनिवार्यतः साहित्य का एक उपादान है। साहित्यकार के समग्र व्यक्तित्व का प्रकाशन गीत तथा व्यक्तिपरक कविता के माध्यम से पद्य में और निबन्ध के द्वारा गद्य में होता है; इसलिए ये साहित्य-विधाएँ आत्माभिव्यक्ति के प्रयोजन को लेकर ही अस्तित्व धारण करती हैं। गीत

के लिए सुख:दुख के घनीभूत-क्षणों को और कविता के लिए विशेष मन:स्थिति की अपेक्षा होती है, भाषा भी तदनुरूप अनुशासित अभिव्यक्ति में आबद्ध होती है; किन्तु निबन्ध में साहित्यकार का 'स्व' सहज और निर्बाध रूप में व्यक्त होता है। निबन्ध शब्द का व्यवहार हिन्दी में विचारात्मक और समीक्षात्मक लेखों के लिए भी होता है, पर यहाँ अभिप्राय उस प्रकार के निबन्ध से है जो निजी रागात्मकता से सम्पन्न होने के कारण कारयित्री प्रतिभा का परिणाम है और जिसके सृजन-हेतु भावयित्री प्रतिभा का व्यापार नहीं होता। लेख में केवल विषय का विवेचन होता है और निबन्ध में लेखक अपनी समूची सत्ता के साथ उपस्थित रहता है।

प्रत्येक साहित्य-रूप अपनी कुछ विशेषताएँ अर्जित कर लेता है, जिनके आधार पर हम उसके तत्वों का निर्धारण करते हैं। ये तत्व स्थिर-प्रकृति के नहीं कहे जा सकते; क्योंकि साहित्य-रूप के विकास के साथ इनमें भी परिवर्तन-परिवर्धन होता रहता है। निबन्ध का सबसे प्रमुख तत्व जैसा कि उल्लिखित हो चुका है 'निजी रागात्मकता' या 'आत्मपरकता' है। इस आत्मपरकता की बहुविध अभिव्यक्ति के कुछ सामान्य रूपों पर यहाँ प्रकाश डालना उचित होगा।

निबन्धकार के व्यक्तित्व के प्रकाशन का प्रथम और महत्वपूर्ण साधन 'उच्छिन्न-चिन्तन' है। वह किसी विषय का तार्किक और व्यवस्थित प्रतिपादन नहीं करता; आवश्यक और अनावश्यक प्रसंगान्तर करके अपनी प्रवृत्ति और रुचि-अरुचि को प्रकट करता है।

"तत्वचिन्तक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबन्ध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी विशेषता है। × × "जो करुण प्रकृति के हैं, उनका मन किसी बात को लेकर, अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र पकड़े हुए, करुण स्थलों की ओर झुकता और गम्भीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है, जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता।.............."

शुक्लजी का यह उद्धरण प्रसंगान्तर पर अच्छा प्रकाश डालता है, हालांकि सम्बन्ध-सूत्र पर उनका आग्रह अधिक है। नाम मात्र के सम्बन्ध-सूत्र को लेकर लेखक कहीं का कहीं पहुँच जाता है। यह प्रसंगान्तर करुण-विनोदशील आदि सामान्य प्रवृत्तियों को ही नहीं प्रकट करता, लेखक की नितान्त विशिष्टता को भी व्यक्त करता है। उच्छिन्न चिन्तन का एक दिलचस्प उदाहरण देखिए-"आज एक बेरंग खत आया × × × वैसे आदि रंग दो हैं, काला और गोरा इस पर कम मजाक नहीं किये गये। कल-परसों अखबारों में गोरे न्याय का एक नमूना पढ़ा कि एक काले हब्शी को एक गोरी अमरीकन महिला का अधर-स्पर्श करने के अपराध मे जिन्दा जला दिया गया, दूसरी ओर एक अंग्रेज ने एक हब्शिन पर बलात्कार किया, जिस पर उसे बीस-बीस डालर-'जरीमाना' हुआ और वह भी किश्त से वह भर सकता है – छूट गया। सूरदास भले कहते रहे हों 'कारे की प्रीत विपरीत' कुछ भी हो यहां तो उलटा मामला है। गोरों को सदा ही सर्वत्र कन्सेशन या छूट है ...." (बेरंग — प्रभाकर माचवे) बेरंग चिट्ठी के रंग-सूत्र से लेखक रंग-भेद पर पहुँच गया और गोरी सभ्यता की हँसी उसने खूब रस लेकर उड़ाई है। निबन्धकार के व्यक्तित्व और उसकी विचारधारा की अभिव्यक्ति इस प्रकार 'उच्छिन्न चिन्तन' के माध्यम से ही होती है। इसी विशेषता के कारण गम्भीर निबन्धों में भी शास्त्राडम्बर नहीं होता, लेखक पाठक को पूरे विश्वास (Confidence) में लेकर अपनी बात कहता है और पाठक लेखक से गहरी आत्मीयता का अनुभव करता है।

व्यंग्य-विनोद का स्थान भी निबन्ध में महत्वपूर्ण है। विनोद तबीयत को गुदगुदा देता है और गम्भीर बात भी बहुत सरल हो जाती है। व्यंग्य से सारे ऊपरी आवरण हट जाते हैं, और वास्तविकता अपने नग्न-रूप में उपस्थित हो जाती है। जिन निबन्धों में युग के प्रश्न उठाये जाते हैं, जीवन की समस्याओं को प्रस्तुत किया जाता है, मानव-प्रकृति के अध्ययन का प्रयास होता है, व्यंग्य-विनोद का समावेश उन्हें रोचक बना देता है, जैसे कि कविता के प्रभाव को अनुकूल लय उत्कर्ष प्रदान कर देती है। गम्भीर सत्य को सहज सम्प्रेष्य बनाने के लिए व्यंग्य-विनोद की अपेक्षा उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्ध में होती ही है। शुक्लजी के निबन्ध बड़े गम्भीर हैं, पर विषय-प्रतिपादन में व्यंग्यमयी

शैली का उपयोग करने से बहुत सरस भी हैं। लोभ और प्रीति के गम्भीर विवेचन के बीच प्रसंग आते ही वे लोभियों पर घृणापूर्वक हँसते हैं. "लोभियो, तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तम अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है?" यहाँ शुक्लजी की लोभ के प्रति प्रतिक्रिया स्पष्ट है, लोभी का—चाहे वह धन-लोभी हो, चाहे रूप-लोभी—वे सदा तिरस्कार करते है। यही कारण है कि साहित्य में रूपासक्ति के प्रसंग उन्हें तभी भाते हैं, जबकि वे प्रेम से संसिक्त होते हैं और मर्यादित जीवन के अनुकूल होते हैं। व्यंग्य का उत्कृष्ट उदाहरण देखिए, "इस विरोधाभास वाली बात को आप भारत का अपमान न समझें। यह वास्तव में संसार के सात अचरजों में आठवीं है। नहीं तो यह कैसे होता कि जिस देश ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श संसार के सामने रखा, उसी ने जात-पांत की व्यवस्था भी दी–और ऐसे विकट रूप में कि वह इस्लाम और ईसाइयत पर भी हावी हो जावे? नए ईसाइयों को छुआछूत बरतते देखकर हमने एक बार आश्चर्य प्रकट किया था तो उन्होंने कहा था, "ईसाई हो गए तो क्या हुआ? धर्म थोड़े ही छोड़ दिया है?" जिसने कहा 'तत्त्वमसि', शिवोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि', उसी ने तेंतीस कोटि देवता भी गिना दिए?" (सब रंग : राष्ट्र के प्रतीक : कुट्टिचातन' अथवा 'अज्ञेय') व्यग्य-विनोद का नियोजन निबन्ध में उस समय आवश्यक हो जाता है, जब अभिव्यक्ति की आजादी न हो या बात को सीधे ढंग से रखना अवांछनीय हो। व्यंग्य-विनोद आन्तरिक उत्साह का व्यंजक भी है। भारतेन्दु-युगीन निबन्धकारों की व्यंग्यमयी प्रवृत्ति बाहरी लाचारी से अधिक भीतरी जिन्दादिली से प्रेरित है।

निबन्धकार के जीवन-दर्शन की स्पष्ट अभिव्यक्ति निबन्ध को सर्वथा निजता प्रदान कर देती है। शुक्लजी के निबन्धों में व्यक्त उनकी मान्यताएँ जीवन के प्रति और साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण को सम्यक् रूप से अभिव्यक्त करती हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में सर्वत्र जीवन के प्रति एक आस्थावान् व्यक्तित्व का स्पन्दन मिलेगा--"यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है, वह नाम और रूप दोनों में अपनी अपराजेय जीवन-

शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। × × चारों ओर कुपित यमराज के दारुण निःश्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि-कांतार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है। कितनी कठिन जीवन-शक्ति है? × × × कुटज क्या केवल जी रहा है? × × काहे वास्ते, किस वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। × × × मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है, अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाए, बहुत अच्छी बात है, नहीं मिल सका, कोई बात नहीं, परन्तु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि गलत है, तो दुःख पहुँचाने का अभिमान तो निरा गलत है।" (कुटज-कादम्बिनी-नवम्बर, ६०)।

उच्च कोटि के निबन्ध साहित्यिक प्रसंगों से सम्पन्न रहते हैं। लेखक प्राचीन-अर्वाचीन, देशी-विदेशी साहित्य का अवसरानुकूल और इच्छानुसार उपयोग करता है--कथा, घटना, पात्र, उक्ति जिसकी भी जरूरत हो। अपना भाग्य उपयुक्त पात्रों के साथ जोड़कर निबन्ध लिखते समय निबंधकार अपनी विपत्ति में भी रस ले सकता है--घर फूँक तमाशा देख सकता है। एक ऐसा ही प्रसङ्ग यहाँ उद्धृत है:-"पाकेट कटा और सौ रुपये गए तो जरूर। पर मुझे बड़ी खुशी हुई और इसमें भी मुझे परमात्मा की दया का संकेत ही दिखलाई पड़ा। × × × × मृच्छकटिक के शर्विलक की याद हो आई, जिसने चौर-कर्म सम्बन्धी अपने शास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है। मैं सोचने लगा कि शर्विलक ने जो पाँच प्रकार से सेंध की आकृति का वर्णन किया है उनमें से मेरे पाकेट की कटी आकृति किस श्रेणी में आती है। सच मानिए जब मैंने अपने पाकेट पर अर्द्धचन्द्राकार देखा तो बस मन में यही हुआ कि है कोई ऐसा काव्य का धीरोदात्त या धीर ललित नायक जो नखक्षत करने में इतने पाटव का दावा कर सकता हो। जयंत सीता की कंचुकी पर चोंच मार कर भगा तो कवि ने यह कहा कि मानो राम को शिक्षा दे रहा था कि नखक्षत कैसे करना होता है।

मैं सोचने लगा कि इस पाकेटमार ने मुझे क्या शिक्षा दी है? (मेरी दिल्ली यात्रा : विचार के प्रवाह)।

लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति निबन्ध की प्रथम अनिवार्यता है और जो भी उपकरण व्यक्तित्व-प्रकाशन में सहायक हो सकते हैं, वे सब ग्राह्य होते हैं।

विशेषताएँ

किसी विषय पर लेखक के ही दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होने के कारण निबन्ध में एक प्रकार की अपूर्णता का भान होता है, किन्तु वह स्वतः पूर्ण रचना है क्योंकि विषयगत पूर्णता के स्थान पर उसमें विषयीगत पूर्णता होती है। निबन्धकार पूरी स्वच्छन्दता से अपनी बात कहता है, अतः उसके विषयान्तर होने की भी सम्भावनाएँ हैं। यह विषयान्तर रचना के लिए उत्कर्षक ही होता है, यदि लेखक मुख्य सूत्र का एकान्त परित्याग न करे। निबन्ध अपनी सरसता के कारण ही पाठकों को प्रभावित करता है। वह जितनी सुगम विधा प्रतीत होता है, वास्तव में उसका सृजन उतना ही दुष्कर है; उसे रोचक बनाने के लिए बहुत बड़े रचना-कौशल की अपेक्षा है। विचार-प्रधान और गंभीर निबन्ध तो नितान्त नीरस और अग्राह्य सिद्ध हों, यदि उनमें बीच-बीच में हास्य-व्यंग्यादि के द्वारा एक हल्का वातावरण न बना दिया जाए। इसलिए निबन्ध को 'मस्तिष्क का शिथिल प्रवाह' कहा गया है। बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि "वास्तव में निबन्ध की शिथिल शैली अत्यधिक प्रभावशालिनी होनी चाहिए। बौद्धिक विचारों की शुष्कता और दुरूहता को दूर करने के लिए निबन्ध-लेखकों का यह प्रधान साधन है। इससे वे पाठकों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। उन्हें शैथिल्यपूर्ण हल्का वातावरण बनाना कला की दृष्टि से आवश्यक होता है।" विचार-प्रधान निबन्धों में यह शिथिलता गंभीरता एवं प्रौढता की अविरोधी होनी चाहिए। निबन्ध के विस्तार के विषय में यद्यपि कोई बन्धन नहीं है, किन्तु अपेक्षित प्रभाव के लिए उसे आकार में सीमित होना चाहिए, अतः वह एक मर्यादित आकार की रचना है। लॉक ने कई सौ पृष्ठों के अपने ग्रंथ का नाम निबन्ध ही रखा था किन्तु उसे निबन्ध नहीं कहा जा सकता। बहुत विस्तृत होने पर निबन्ध प्रबन्ध में परिणत हो

जाता है। जैसे विषयीगत बने रहने के लिए प्रगीत को संक्षिप्तता की अपेक्षा है, वैसे ही निबन्ध भी महाकार का वरण नहीं कर सकता।

निबन्ध की उल्लिखित विशेषताओं को इस रूप में रखा जा सकता है--

स्वरूप

(१) निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व और निजीपन की अभिव्यक्ति का महत्व प्रमुख होता है। निबन्धकार का पाठकों से सीधा सम्बन्ध होता है, वह उनका आत्मीय बनकर अपनी बात कहता है।

(२) अपूर्णता का भाव होते हुए भी निबन्ध स्वतः पूर्ण रचना है। लेखक की स्वच्छन्दता उसमें वर्तमान होती है, किन्तु वह मर्यादाहीन रचना नहीं है।

(३) सरसता और रोचकता निबन्ध का एक आवश्यक गुण है।

(४) निबन्ध एक सीमित आकार की गद्य-रचना है।

निबन्ध के प्रकार

निबन्ध का वर्गीकरण हिन्दी के विद्वानों ने प्रायः इस प्रकार किया है—(१) वर्णनात्मक निबन्ध, (२) विवरणात्मक निबन्ध, (३) भावात्मक निबन्ध और (४) विचारात्मक निबन्ध।

बाबू गुलाबराय के अनुसार वर्णनात्मक निबन्धों में वस्तु के स्थिर रूप का वर्णन होता है और विवरणात्मक निबन्धों में वस्तु के गतिशील रूप का निरूपण होता है--यथा प्राकृतिक दृश्यों, दर्शनीय स्थानों, सुन्दर वस्तुओं आदि पर लिखे गए निबन्ध वर्णनात्मक प्रकार के होंगे और यात्राओं, घटनाओं, उत्सवों आदि पर लिखे गए निबन्ध विवरणात्मक होंगे। वर्णनात्मक निबन्ध की समता मूर्त चित्र से की जा सकती है, जिसमें पटभूमि में दृश्य अपनी सम्पूर्ण यथार्थता में विद्यमान रहता है और विवरणात्मक निबन्ध की तुलना में चल-चित्र को लिया जा सकता जिसमें एक के पश्चात् एक घटनाएं मिलकर एक क्रम में दृश्य रखती है। प्रकार दिल्ली का वर्णन वर्णनात्मक निबन्ध का विषय होगा और जयपुर

में दिल्ली की यात्रा विवरणात्मक निबन्ध के अन्तर्गत आएगी। वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों का यह अन्तर बड़े स्थूल प्रकार का है, जिसे सदा लक्ष्य नहीं किया जा सकता।

भावात्मक निबन्धों में राग-तत्व की प्रधानता होती है। जब निबन्धकार तर्क और चिन्तन के स्थान पर हृदय की भावना को प्रमुखता देता है तो उसकी रचना निबन्ध के भावात्मक प्रकार में परिगणित होती है। वह वर्ण्य से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, जिससे उसके वर्णन में एक प्रकार का आवेग रहता है। लेखक के हृदय से निकले ये निबन्ध सीधे पाठक के हृदय पर प्रभाव डालते हैं। इनमें राग-तत्व प्रमुख होता है, कल्पना-तत्व गौण और बुद्धि-तत्व अत्यन्त क्षीण रहता है। भावात्मक निबन्धों में निबन्धकार कभी अपनी अनुभूति को कल्पना के माध्यम से संप्रेष्य बनाता है, जैसे महाराजकुमार रघुवीरसिंह ने 'ताज' में एक पूरे वातावरण की सृष्टि की है, शाहजहाँ और नूरजहाँ का प्रणय-प्रसंग शब्द-चित्रों के रूप में मूर्त हो गया है और लेखक का अनुभूति-प्रवाह हमारे हृदय को अपने साथ बहा ले जाता है। कभी निबन्धकार किसी जड़ या चेतन के गहरे सम्पर्क में आता है, कालान्तर में उसके पुनः सम्पर्क या स्मरण से उसका हार्दिक आवेग तरल बन कर फूट पड़ता है। इन निबन्धों में अनुभव की संवेदना प्रमुख होती है। कभी लेखक हास्य और व्यंग्य द्वारा एक ओर मनोरंजन करता है, दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों पर तीव्र प्रहार। बालमुकुन्द गुप्त का 'शिव-शम्भु का चिट्ठा' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। कभी जीवन और जगत् सम्बन्धी किसी विचारधारा से प्रेरित होकर निबन्धकार उसका भावात्मक प्रतिपादन करता है। सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध इसी प्रकार के हैं।

भावात्मक निबन्धों में राग-तत्व के साथ कल्पना-तत्व भी सक्रिय रहता है। कल्पना की सहायता से मूर्त विधान करते हुए ही लेखक अपनी अनुभूतियों को संप्रेष्य बनाता है। इन निबन्धों की भाषा में एक आवेग होता है, एक प्रवाह सारे निबन्ध में व्याप्त होता है, उसकी गति सम हो या विषम। बाबू गुलाबराय ने भावात्मक निबन्धों की तीन शैलियाँ बताई हैं--(i) धारा-शैली--जिसमें भावों की धारा प्रवाहित होती है (ii) तरंग-शैली--जिसमें भावना

लहरों की तरह उठती-गिरती रहती है और और (iii) विक्षेप-शैली--जिसमें भावनाएं उखड़े रूप में आती है और तारतम्य का अभाव होता है। शैलियों का यह विभाजन बहुत संगत नहीं कहा जा सकता, इनको निबन्धों में पहचानने का कोई निश्चित प्रतिमान नहीं हो सकता।

विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि-तत्व की प्रधानता होती है, पर भावना की अन्तःसलिला भी प्रवाहित होती रहती है। यात्रा को निकलती तो है बुद्धि पर हृदय भी अपने रमने के स्थल बराबर पाता रहता है। प्रसादजी ने कविता को 'चिन्तन के क्षणों की अनुभूति' कहा है, पर कविता पर यह परिभाषा उतनी लागू नहीं होती जितनी विचारात्मक निबन्धों पर। अनुभूतिजन्य विशिष्टता के कारण ही ऐसी रचनाएं शास्त्र के अन्तर्गत न होकर साहित्य के अन्तर्गत होती है। अनुभूति-मार्ग में ही लेखक का अन्तरंग व्यक्तित्व प्रकट होता है। ऐसे निबन्धों द्वारा ज्ञानार्जन और आनन्द का एक साथ लाभ होता है। शुक्लजी के शब्दों में 'श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि' होती है। विचारात्मक निबन्धों में विषय का प्रतिपादन तर्कप्रतिष्ठित होता है, किन्तु शास्त्र के समान उसका केवल वस्तुपरक प्रतिपादन नहीं होता, लेखक के व्यक्तित्व का समावेश अवश्य होता है। ऐसे निबन्धों में लेखक साहित्यिक ग्रन्थों से उदाहरण देकर रस-संचार करता है, बीच-बीच में हास्य-व्यंग्य का भी पुट देता है और इस प्रकार ये निबन्ध गम्भीर होकर भी सरस बने रहते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहां एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिये हो।" पर यह तो शैलीगत आदर्श की एक अलग मान्यता हुई।

विचारात्मक निबन्ध के अनेक भेद किये जाते हैं। साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी लेख आलोचनात्मक निबन्ध कहलाते हैं। आलोचनात्मक निबन्ध भी तीन वर्गों में बांटे जाते हैं--(१) सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी--जिनमें किसी साहित्यिक सिद्धान्त का विवेचन हो, (२) व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी--जिनमें किसी कृति या कृतिकार पर प्रकाश डाला गया हो और (३) गवेषणात्मक--जिनमें किसी साहित्यिक विषय पर अनुसंधानपूर्वक प्रकाश डाला गया हो।

पर वास्तव में जिन्हें 'एसे' (Essay) कहते है--जिनमें लेखक के व्यक्तित्व की प्रधानता होती है, उनके अन्तर्गत आलोचनात्मक निबन्ध नहीं आ सकते। आलोचनात्मक निबन्ध समालोचना या काव्य-शास्त्र के ही अंग हैं और इन्हें लेग्न ही कहा जा सकता है; क्योंकि साहित्य से सम्बन्धित होने पर भी समालोचना है तो शास्त्र ही।

विचारात्मक निबन्धों में दो प्रकार की शैलियों की चर्चा की जाती है--(i) समास-प्रधान और (ii) व्यास-प्रधान। समास-प्रधान शैली में कम से कम विस्तार में अधिक से अधिक कहने की प्रवृत्ति होती है, गागर में सागर भरने का प्रयत्न किया जाता है और व्यास शैली में विचार का प्रतिपादन फैलाव के साथ होता है, बात समझा समझा कर कही जाती है। विचारात्मक निबन्धों में विचार-प्रकाशन की भी दो पद्धतियों का उल्लेख किया जाता है--(i) आगमन पद्धति--निबन्धकार विषय की व्याख्या करता हुआ निष्कर्ष पर पहुँचता है और (ii) निगमन-पद्धति- सूत्र बताकर निबन्धकार व्याख्या करता है अर्थात् निष्कर्ष पहले, व्याख्या बाद में। रामचन्द्र शुक्ल की शैली समास-प्रधान और निगमनात्मक बतायी जाती है और श्यामसुन्दरदास की व्यास-प्रधान और आगमनात्मक। किंतु शैलियों का इस प्रकार एकान्त पृथक्करण समीचीन नहीं है। समास-प्रधान और व्यास-प्रधान दोनों शैलियाँ एक ही लेखक के एक ही निबन्ध में मिल सकती है:—रामचन्द्र शुक्ल के किसी भी निबन्ध को लिया जा सकता है, जहाँ वे कभी सूत्रात्मक शैली को अपनाते हैं और कभी विषय का विस्तार से विश्लेषण भी करते हैं।

नया दृष्टिकोण

हिन्दी में 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में होता है--वर्गीकरण की प्रक्रिया से ये विभेद बढ़ते ही जाएँगे। अतः विभिन्न प्रकार के निबन्धों का ऐसा विभाजन ही उचित होगा जो कम से कम जटिल और अधिक से अधिक संगत हो। कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार निबन्ध के केवल दो विभागों का निर्देश पर्याप्त होगा:--

(i) उपयोगी अथवा शास्त्रीय-वैज्ञानिक निबन्ध: इनका प्रयोजन

ज्ञान-वर्धन या शास्त्रीय मन्तव्यों का प्रतिपादन होता है। इन रचनाओं में वस्तुगत विवेचन की प्रधानता होती है। इन्हें 'लेख' की संज्ञा दी गई है, किन्तु निबन्ध शब्द भी हिन्दी में इनके लिए बहु-प्रचलित रहा है। साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी अथवा आलोचनात्मक निबन्ध भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आएंगे। निबन्धकार की वैयक्तिकता का अभाव इनमें न हो, उसकी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं होता।

(ii) कलात्मक अथवा ललित निबन्ध : जिन रचनाओं में विषयीगत विवेचन प्रमुख होता है अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता होती है, उन्हें ही वास्तव में निबन्ध की संज्ञा दी जानी चाहिए। निबन्ध शब्द का प्रयोग क्योंकि अधिक व्यापक अर्थ में होता है इसलिए ऐसी रचनाओं को जिनमें लेखक के व्यक्तित्व की निर्बाध अभिव्यक्ति होती है, ललित निबन्ध कहा जा सकता है।

शैली

निबन्ध में जहां तक शैली का सम्बन्ध है, वह निबन्धकार के व्यक्तित्व के अनुरूप होती है। किसी विषय के प्रतिपादन में जहाँ हास्य-प्रिय लेखक हँसी और व्यंग्य की वस्तु निकाल लेता है, करुण भाव में रमने वाला भावुक उसी में से करुणा की सृष्टि करता है। कल्पना, विचार और भाषा लेखक की प्रौढ़ता पर निर्भर करते हैं। प्रौढ़ लेखक के सुलझे व्यक्तित्व के अनुसार ही उसके विचार स्पष्ट होते हैं, चित्र साफ होते हैं और भाषा सहज, परिष्कृत एवं मंजुल होती है। समान महत्व के दो लेखकों की सामर्थ्य का अन्तर शैली ही प्रकट करती है। Style is due man की उक्ति निबन्ध में अधिक चरितार्थ होती है। विषय और उसकी अभिव्यंजना को अलग-अलग कर नहीं देखा जा सकता, उच्च कोटि के कलाकार की रचनाओं में दोनों में अभिन्न सम्बन्ध होता है। प्रत्येक श्रेष्ठ निबन्धकार की अपनी अलग अलग शैली होती है, जो उसे दूसरों से पृथक और विशिष्ट बनाती है।

विषय की दुरूहता शैली की जटिलता का अनिवार्य कारण नहीं होती, बहुत बार उसका कारण लेखक के विचारों की अस्पष्टता में ढूंढा जा सकता है।

प्रासादिकता शैली का काव्य-गुण है किन्तु वह सरलता का पर्याय नहीं है। सहृदय ही काव्य का अधिकारी हो सकता है यह मान्यता आज की नहीं है। सहृदयता के लिए केवल भावनाशील होना ही पर्याप्त नहीं है, काव्य की दीक्षा भी अपेक्षित है, अतः उच्चकोटि के निबन्धों का आनन्द भी विज्ञ भावुक ही उठा सकते हैं। जीवित भाषा ही अभिव्यक्ति में प्राण-संचार करती है। तत्सम, तद्भव या अन्य भाषाओं के जो शब्द भाषा के अंग बन गये हैं या बनने की प्रक्रिया मे हैं श्रेष्ठ लेखक उन्हें सहज भाव में ग्रहण करता है, वह इससे भी आगे बढ़कर घिसे-पिटे अर्थों वाले शब्दों को अस्वीकार करता है, पुराने शब्दों को नया अर्थ देता है और नये शब्द गढ़ता है। समर्थ साहित्यकार भाषा और शैली के सम्बन्ध मे सदा प्रयोगशील रहता है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से निबन्ध का क्षेत्र उन्मुक्त विस्तार मे फैला है। कोई भी मानसिक प्रतिक्रिया, मनःस्थिति या सवेदना निबन्ध का विषय बन सकती है। हर श्रेष्ठ लेखक अछूते विषयों को छूता है। अतीत की स्मृतियाँ और भविष्य की आशाएँ निबन्ध में रूपायित हो सकती हैं। प्राकृतिक या मनुष्यकृत सौन्दर्य निबन्ध में उतारा जा सकता है। जीवन और जगत् सम्बन्धी चिन्ता को व्यक्त किया जा सकता है। सृष्टि या मनुष्य से सम्बन्धी कुछ भी निबन्ध का प्रतिपाद्य हो सकता है। केवल वस्तुगत सत्य किसी कलाकृति को जन्म नहीं दे सकता--साहित्यिक निबन्ध भी व्यक्ति की मनोभूमि का संस्पर्श पाकर ही जन्म लेता है। किन्तु एकान्त आत्मनिष्ठता वैचित्र्य-प्रदर्शन का ही निमित्त हो सकती है--वस्तु सत्य का सर्वथा परित्याग निबन्ध में वांछनीय नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है--

आचार्य शुक्ल ने लिखा है : "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाए। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी न जाए या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाए, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाए, जो उनकी अनुभूति के प्रभाव या लोक-सामान्य रूप से कोई सम्बन्ध न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की सी कसरतें या हठ-

योगियों के से आसन कराये जाएँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"

---

[२]

हिन्दी-निबन्ध

गद्य-साहित्य के अन्य रूपों की भाँति ही निबन्ध का श्रीगणेश भी भारतेन्दु-युग से होता है। भारतेन्दु के रूप में एक महानेता हिन्दी को मिला था। उनके प्रेरणादायक व्यक्तित्व ने हिन्दी में सर्वतोमुखी उन्नति का सूत्रपात किया। उनको केन्द्र बनाकर उस युग में एक पूरा लेखक-मण्डल गतिशील था।

भारतेन्दु-युग

इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ (हरिश्चन्द्र मैगजीन या हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, हिन्दी-प्रदीप, ब्राह्मण, सार-सुधानिधि आदि) प्रकाशित होने लगीं और उनके साथ ही निबन्ध-लेखन भी पल्लवित होने लगा।

राष्ट्रीय-जागरण के उपःकाल में पैदा होने के कारण इस युग के लेखकों को बहुत बड़ा दायित्व उठाना पड़ा। उनमें देश और समाज के प्रति गहरी दिलचस्पी थी। अतः इस काल के निबन्धों में सामाजिक सुधार की भावना मुख्य है। इन लेखकों को अपनी संस्कृति से प्रेम था और भारतीय जीवन के साथ इनके हृदय का मार्मिक सम्बन्ध बना हुआ था, इसीलिए त्यौहारों, आमोद-प्रमोद से भरे मेलों आदि पर काफी निबन्ध लिखे गए। इन लेखकों में अपूर्व जिन्दादिली थी। राजनीति और समाज-सुधार की कटु बातें हास्य-व्यंग्य के सहारे कम से कम आपत्तिजनक और रोचक बन जाती हैं। हास्य-व्यंग्य युक्त मार्मिक ओजस्वी उक्तियों से सम्पन्न निबन्ध ही बहुधा लिखे गए। डा० जान्सन की परिभाषा को चरितार्थ करने वाले-मस्तिष्क के स्वच्छन्द शिथिल प्रवाह रूप-निबन्धों की इस युग में कमी नहीं थी। इस काल के निबन्ध-लेखक अपनी अलग-अलग शैलीगत विशेषताएँ अर्जित करने में समर्थ हुए थे।

द्विवेदी-युग

'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी-गद्य का एक दूसरा युग शुरू होता है। इस युग में निबन्धों ने एक दूसरे आदर्श को ग्रहण किया। उपयोगी और ज्ञान-सम्बन्धी निबन्धों की प्रचुरता रही। भारतेन्दु युग के लेखकों में भाषा और व्याकरणगत दोष प्रायः ही मिलते हैं, इस युग में गद्य की भाषा का ही संस्कार और परिष्कार हुआ, निबन्ध में भी भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के लेखकों में वह जिन्दादिली न रही जो भारतेन्दु-युगीन उनके पूर्ववर्तियों में थी और न उनके निबन्धों में वैयक्तिकता की वैसी छाप है। इस युग के लेखकों का दृष्टिकोण नैतिक एवं सुधारात्मक था तथा ज्ञान-संचय की भावना उनमें प्रमुख थी। इस काल में कुछ ऐसे कृति-लेखकों का आविर्भाव हुआ जो आगे चलकर बहुत शक्तिशाली सिद्ध हुए। भविष्य को प्रशस्त करने की दृष्टि से इस युग का विशेष महत्व है।

आधुनिक-युग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ हिन्दी-निबन्ध के आधुनिक युग का आरम्भ होता है। शुक्लजी के गम्भीर चिन्तन-प्रधान निबन्धों ने साहित्य को बहुमूल्य निधि दी। उनके निबन्धों में विचारों की वह गूढ़ गुम्फित परम्परा मिलती है जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर नयी विचार-पद्धति पर दौड़ पड़ती है। उनके विचार-प्रधान निबन्ध उनके व्यक्तित्व से अनुप्राणित हैं। शुक्लजी के निबन्धों में विषय-निष्ठता, सुसम्बद्धता और तारतम्य का निर्वाह किया गया है। किन्तु शुक्लजी के आदर्श का आगे के सभी लेखकों ने पालन नहीं किया। 'मस्तिष्क के स्वच्छन्द शिथिल प्रवाह' के रूप में निबन्ध की मान्यता का त्याग नहीं किया गया और व्यक्तिपरक निबन्धों का सृजन बराबर होता रहा। मौन्टेन की मान्यता ही निबन्धकारों का आदर्श रही, क्योंकि निबन्ध ही वह साहित्य-रूप है, जिसमें लेखक अपनी रुचि, भावना और विचारों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति कर सकता है। व्यक्ति-प्रधान निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व दीप्तिमान होकर भी प्रतिपाद्य विषय की धूमिल छाया में अस्पष्ट रहता है। हिन्दी-निबन्ध का आज चतुर्मुखी विकास हो रहा है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल भारतीय संस्कृति और साहित्य के अध्येता विद्वान् हैं। मध्यकालीन हिन्दी-काव्य का भी इन्होंने अनुशीलन किया है और जायसी के 'पद्मावत' का इनका भाष्य सूफी काव्यों को समझने की दिशा में बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं पर इनका कार्य उल्लेखनीय है। प्राचीन साहित्य का विदग्ध विवेचन भी इन्होंने प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत लेख में इन्होंने सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में स्वराज्य की भावना का विश्लेषण किया है। स्वराज्य एक आध्यात्मिक अनुभव है। पृथिवी माता है, मैं उसका पुत्र हूँ, यही स्वराज्य की भावना है। राष्ट्र में पृथिवी, उस पर रहने वाली जनता और उस जनता की संस्कृति का सम्मिलन है। राष्ट्र-देवता की जो भावना पिछले पाँच सहस्र वर्षों से विकसित हुई, वह हमारा मार्ग-दर्शन करती है। जनता और भूमि के पारस्परिक सम्बन्धों का जो श्रीवृक्ष है, उसका संवर्धन ही सच्चा स्वराज्य है।

[१]

अपनी जनता अपनी पृथिवी

—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

अपने देश में अपना राज्य स्थापित हुआ है--इसी की संज्ञा स्वराज्य है। स्वराज्य की व्याख्या नाना रूपों में की जा सकती है। अपनी भाषा हो, अपनी संस्कृति हो, जीवन का अपना प्रकार हो, अपने आदर्श हों और अपना शिष्टाचार हो, सदाचार हो--ये सब स्वराज्य के सुन्दर फूल हैं। इनका उपभोग भी स्वराज्य की स्थापना है, किन्तु इन सबसे महत्वपूर्ण अपनी पृथिवी के साथ अपनी जनता का वह आंतरिक और घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसके जीवित रहने से ही स्वराज्य का सच्चा फल देखने में आता है।

जनता और पृथिवी का सूत्र बहुत कुछ अर्थ रखता है। अथर्ववेद में तो इसे यों कहा है--

'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः'

अर्थात् पृथिवी माता है, मैं उसका पुत्र हूँ यही स्वराज्य की भावना है। स्वराज्य के फलस्वरूप जो कुछ चाहिए, वह इस एक वाक्य में आ जाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति जिस पृथिवी में उसका जन्म हुआ है, उसे अपनी मातृभूमि समझने लगता है तो उसका मन उस भूमि के साथ जुड़ जाता है। मातृभूमि उसके लिए देवता हो जाती है। उसके मन के समस्त भाव मातृभूमि के हृदय से जा मिलते हैं। फिर वह पुत्र की भाँति माता के प्रति अपने कर्त्तव्य की बात सोचता है। जीवन में चाहे जैसा अनुभव हो, वह मातृभूमि से द्रोह की बात नहीं सोच सकता। मातृभूमि के प्रति जब यह भाव दृढ़ होता है वहीं से सच्ची राष्ट्रीय एकता का जन्म होता है। उस स्थिति में मातृभूमि पर बसने वाले बहुविध जन एक दूसरे से सौदा करने या शर्तें तय करने की बात नहीं सोचते। वे मातृभूमि के प्रति अपने कर्त्तव्य की बात सोचते हैं। कर्त्तव्य की भावना को ही

भारतीय परिभाषा में धर्म कहा जाता है। आज राष्ट्र का सब से बड़ा कष्ट यही है कि प्रत्येक व्यक्ति या समूह अपने कर्त्तव्य या धर्म की बात नहीं सोचता, किन्तु अपने लिए सब प्रकार के अधिकार चाहता है। सब के सुख में सुखी और सब के दुःख मे दुखी होने की भावना जनता में उत्पन्न हो, यही स्वराज्य का प्रत्यक्ष फल और साक्षात् रूप हो सकता है। सेतुबन्ध रामेश्वर से लेकर कश्मीर तक की जनता का सुख-दुःख एक है। कच्छ से असम तक की जनता का हानि-लाभ एक है। राष्ट्रीय संकट के समय इस सत्य की एक लहर चारों ओर दौड़ गई थी। बिजली के तार से लगने वाले झटके की तरह इस तथ्य का सबने अनुभव किया। पर इसे सदा स्मरण रखना है, भुलाना नहीं है। यही तो स्वराज्य की भावना का मधुर फल है।

स्वराज्य एक आध्यात्मिक अनुभव है। उसका आनन्द विलक्षण है। वह एक ऐसा स्वाद है, जिसकी उपमा अमृत से ही दी जा सकती है। यह मनुष्य के मन और शरीर दोनों को पुष्ट करता है। स्वराज्य की महिमा में क्या नहीं कहा जा सकता। वैदिक ऋषियों ने सोचा था--

'यतेमहि स्वराज्ये।' हम सब मिल कर स्वराज्य की स्थापना में यत्नशील हों।

सबके सम्मिलित प्रयत्न से ही स्वराज्य की रक्षा और स्थिति सम्भव है। यह एक व्यक्ति का बोझा नहीं। यह तो सम्पूर्ण राष्ट्र का दायित्व है। यदि राष्ट्र जागता है तभी स्वराज्य की स्थिति दृढ़ होती है। 'राष्ट्रिया जागृयाम वयम्' यह वैदिक उक्ति हृदय में टांक लेने योग्य है। इस सबल मंत्र का प्रचार होना ही चाहिए कि हम राष्ट्र में जागते रहें। यह एक बड़ा सन्देश है। जब व्यक्ति अपने कर्तव्य को भूल जाता है तब वह राष्ट्र के प्रति सच्चा नहीं होता। उसके प्रमाद से राष्ट्र की हानि होती है, राष्ट्र के योग-क्षेम के साथ ही व्यक्ति का योग-क्षेम जुड़ा है।

राष्ट्र का सम्मिलित अर्थ पृथ्वी, उस पर रहने वाली जनता, और उस जनता की संस्कृति है। जब ये तीनों स्वर एक सूत्र में मिलते हैं तभी राष्ट्र

का जन्म होता है। केवल स्थूल पृथिवी मिट्टी और पत्थर का ढेर है। उसकी सत्ता तभी सार्थक होती है, जब उस पर जनता का निवास हो, जब उस पर जन का निवास हो और जनसमूह या जनता की चरितार्थता तभी है जब उसमें संस्कृति का विकास हो।

भारतीय राष्ट्र का जो स्वरूप ५ सहस्र वर्षों में विकसित हुआ है उसमें ये तीनो तत्व एक दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो गए है। हमने अपनी पृथिवीं का पूजन किया। उसे पग-पग पर देवत्व प्रदान किया। उसके प्रत्येक पर्वत, नदी, सरोवर को पवित्र तीर्थ के रूप में प्रणाम किया और 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसो' इस प्रकार के उदात्त घोष से चारों दिशाओं को भर दिया। मातृभूमि के सम्मान की किलकारी चारों ओर भर गई। जनता ने भूमि के साथ अपना सम्बन्ध नाना प्रकार से स्थापित किया। उन सूत्रों की जड़ बहुत गहरी है।

भूमि पर रहने वालो जनता का अभिप्राय विशृंखल जनसमूह से नहीं है, किन्तु उस प्रकार के मानव समुदाय से है, जिसने भूमि को सम बनाया और नाना प्रकार के पदार्थो की उपलब्धि के लिए पृथिवी रूपी गौ का दोहन किया। एक-दो नहो अनेक आदिराज पृथु यहाँ जन्मे हैं, जिनके नेतृत्व में पृथिवी का दोहन किया गया और उसके अमृत-तुल्य दुग्ध का पान जनता ने किया। पृथिवी का यह दोहन केवल आर्थिक सम्पत्ति के रूप में ही नहीं प्राप्त हुआ, किन्तु सांस्कृतिक जीवन के जितने रूप हैं, वे सब ही पृथिवी रूपी गौ के दुग्ध हैं। इनका सम्मिलित नाम संस्कृति है। मनुष्य अपने हाथों से जो कर्म करता है और मन को शक्ति से जो विचार करता है, उसकी वह कर्म और मन की सिद्धि का नाम ही संस्कृति है। भारतीय मानव ने जीवन का कितना संस्कार किया है, ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में उसका जो निर्माण है, उसकी समग्र कथा ही भारतीय संस्कृति का परिचय है। संस्कृति के रूप में जनता और पृथिवी के अनेक घनिष्ठ सम्बन्ध ही हमारे जीवन के रूप हैं। स्वराज्य में उनका प्रतिपालन और विकास होना चाहिए।

संस्कृति हवा में नहीं तैरती, वह हमारे श्वास-प्रश्वास में भर जाती है। संस्कृति ही मानव जीवन की प्राण-वायु है। प्राणवन्त जीवन की रचना के लिए संस्कृति के विकास पर ध्यान देना होगा। भारतीय उदाहरण के लिए भारतीय पुष्प, वृक्ष, फल, बीज, कृषि, भोजन, अन्न-पान विधि, वस्त्र, वेषभूषा, रहन-सहन, शैयासन, बर्तन-भांडे, गृह-निर्माण, वास्तु, स्थापत्य, नृत्य-गीत, पर्व-उत्सव, आमोद-प्रमोद, चित्र-शिल्प, आचार-व्यवहार, शिक्षा-शास्त्र, भाषा, अपनी लिपि आदि सैकड़ों संस्थाओं का भारतीय रूप ही राष्ट्र की संस्कृति है। अतीत के मौलिक सुन्दर एवं रचनात्मक तत्वों को लेकर ही हमें नए रूपों का विकास करना चाहिए तभी निजी संस्कृति का माधुर्य और सौन्दर्य जीवन में निवास करता है। जनता और भूमि के पारस्परिक सम्बन्धों का जो श्रीवृक्ष है उसका संवर्धन ही सच्चा स्वराज्य है।

डा० सम्पूर्णानन्द

राजस्थान के वर्त्तमान राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द हिन्दी के मान्य साहित्य-सेवी रहे हैं । देश के राजनीतिक-जीवन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है । उनके अनुभव विविध और विशाल है ।

संकलित लेख में उन्होंने जनता को लोकतन्त्रीय जीवन की शिक्षा देने पर बल दिया है, क्योंकि देखा गया है कि अ-लोकतन्त्रीय शक्तियां अपना सिर उठाती हैं, तो लोकतन्त्र उनका डट कर सामना नहीं कर पाता । लोकतन्त्र केवल शासन की प्रणाली नहीं, वह जीवन की एक प्रणाली है । लोकतन्त्र में व्यक्ति को सर्वोच्च मान दिया जाता है । सामाजिक विषमता और गरीबी लोकतन्त्र की शत्रु-शक्तियां हैं, लोग सामाजिक-आर्थिक कष्टों से राहत पाने के लिए ताना-शाही तरीकों का स्वागत करने को तैयार हो सकते है । शिक्षा द्वारा ही जनता को बताया जा सकता है कि लोकतन्त्र के हनन से मानवता का भी हनन होता है । यद्यपि लेखक को यहां सामाजिक और आर्थिक समानता की स्थापना को लोकतन्त्र की अनिवार्यता बताने का अवसर नहीं मिला है, किन्तु अन्यत्र उसने ऐसा ही मत व्यक्त किया है ।

[२] लोकतंत्रीय जीवन की शिक्षा

—डा० सम्पूर्णानन्द

किसी ने कहा है कि लोकतन्त्र शासन का वह तरीका है, जिसमें खोपड़ियाँ गिनी जाती हैं, तोड़ी नहीं जातीं। लेकिन इस शासन-प्रणाली में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि लोकतन्त्री सरकार कोई भी काम उतनी जल्दी नहीं कर सकती, जितनी जल्दी निरंकुश सरकार करती है। युद्ध या संकट के समय जब फुर्ती और दृढ़ता से काम करना पड़ता है, तब लोकतन्त्री शासन के नेताओं को भी अधिक अधिकार दे दिये जाते हैं। लोकतंत्री शासन में बहुत-सा समय और साधन भी व्यर्थ नष्ट होता है।

किन्तु जहाँ यह दोष है, वह अच्छाइयाँ भी हैं। लोकतंत्र में यदि काम करने में देर लगती है, तो इससे बहुत-से गलत काम भी होने से बच जाते हैं। शासन को बिना लड़ाई-झगड़े के बदला जा सकता है और विरोधियों को सरकार की खुलेआम आलोचना करने की स्वतन्त्रता रहती है। लोकतंत्र में व्यक्ति पर उतनी बंदिश नहीं रहती, जितनी निरंकुश शासनों में। इसीलिए दोष होने पर भी लोकतंत्र को ज्यादा पसन्द करते हैं।

लोकतन्त्र क्या है?

किन्तु लोकतंत्र का मतलब केवल यही नहीं कि उसमें जनता को वोट देने का अधिकार होता है। ऐसे अनेक अ-लोकतंत्री देश भी हैं, जहाँ जनता को वोट का अधिकार होता है। मुसोलिनी और हिटलर के समय में इटली और जर्मनी की जनता भी वोट देती थी। आज सोवियत रूस में भी विशाल जनसमूह वोट देता है। सोवियत संघ के देश अपने को लोकतन्त्री राष्ट्र कहते हैं, किन्तु वहाँ के मतदाता में और स्विट्जरलैंड के मतदाता में स्पष्ट अन्तर है। केवल वोट का अधिकार देने से लोकतंत्र नहीं स्थापित हो जाता।

अस्तु, लोकतंत्र केवल शासन को ही प्रणाली नहीं है, यह जीवन की भी प्रणाली है। लोकतंत्र की भी एक सामाजिक और दार्शनिक विचारधारा है, यद्यपि यह उतनी स्पष्ट नहीं है जितनी साम्यवाद की, न लोग इसे उतनी कट्टरता से मानते हैं, जितनी कट्टरता से साम्यवादी अपने सिद्धांतों को मानते हैं। इस अर्थ में लोकतंत्र का कोई बुनियादी सिद्धान्त नहीं है। डारविन ने जीवन-संघर्ष के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, लोकतंत्र में लोगों के विचार उसी से प्रभावित हैं। लोकतंत्री व्यवस्था में समाज के जीवन में हस्तक्षेप करना उचित नहीं माना जाता, और प्रतिस्पर्द्धा को यानी एक दूसरे से होड़ करने और आगे निकलने के अवसर को ही प्रगति की कुंजी समझा जाता है। किन्तु इन सबके ऊपर लोकतंत्र का मौलिक सिद्धांत यह है कि उसमें व्यक्ति को सर्वोच्च मान और महत्व दिया जाता है। जिस समाज में व्यक्ति को समाज का एक अंग या पुरजा समझा जाता है और इस नाते उसे कुछ अधिकार दिये जाते हैं, अर्थात् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाता, उस समाज में निरंकुश शासन का रास्ता खुल जाता है।

किन्तु जिस समाज में व्यक्ति को कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त होते हैं, जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का आदर होता है और जहाँ समाज व्यक्ति के विकास में सहायक होता है, वहीं लोकतंत्र सफल हो सकता है। पहले ही कहा जा चुका है कि लोकतंत्री राज्यों ने लोकतंत्र का कोई दार्शनिक सिद्धांत नहीं स्वीकार किया है। जिन लोकतंत्री राज्यों में धर्म सरकारी या कानूनी रूप से प्रतिष्ठित है, जैसे इंगलैण्ड में, वहाँ भी उस धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों को खास महत्व नहीं दिया जाता। फिर भी सभी लोकतंत्रों में एक मौलिक सिद्धांत या विचार स्वीकार किया जाता है कि व्यक्ति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व या व्यक्तित्व है, और इस का सम्मान होना और ध्यान रखना जरूरी है।

राजनीतिक दल

लोकतंत्र में राजनीतिक नेता और सरकार स्वभावतः लोकतंत्र की मशीनरी यानी चुनाव और वोट पर ज्यादा जोर देते हैं। जिस प्रकार इंगलैण्ड में

राजनीतिक पार्टियां और चुनाव का विकास हुआ, उसी का अनुकरण सब लोकतंत्री देशों में हुआ है। ऐसे चुनाव में अपने दल और अपने कार्यक्रम का ढिंढोरा पीटा जाता है और प्रतिद्वन्द्वी दलों को खराब बताया जाता है, इसमें अर्धसत्य और असत्य का भी सहारा लिया जाता है। चुनाव जीतना और सरकार बनाना ही उनका मुख्य और तात्कालिक उद्देश्य होता है, दूसरी किसी चीज़ का उनको ध्यान नहीं रहता, न रह सकता है। न तो सभी राजनीतिक दलों में इतनी योग्यता है कि वे गम्भीर चिन्तन करें, न दार्शनिक विषय पर विचार से उन्हें कोई लाभ ही हो सकता है। फिर भी लोगों को लोकतंत्र के मूल सिद्धांत अर्थात् व्यक्ति के महत्व का आभास है। इसका प्रमाण है कि जब व्यक्ति के मूल अधिकारों पर कोई आक्रमण होता है तो लोग तुरन्त उसका विरोध करते हैं, चाहे ऐसे मूल अधिकार संविधान में लिखे हों या नहीं।

साम्यवाद प्रारम्भ से ही लोकतंत्र का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी रहा और अब भी है। सुविधा के लिए साम्यवादी देशों ने लोकतंत्र की कुछ बातें रख ली हैं, जैसे वोट लेना। किन्तु उनके यहाँ चुनाव में केवल एक दल के लोग ही खड़े हो सकते हैं। कुछ सिद्धांत या नीति ऐसे मान लिये गये हैं, जिनमें संदेह करने या जिनकी आलोचना करने का किसी को अधिकार नहीं है। किन्तु सबसे गम्भीर बात तो यह है कि साम्यवाद में व्यक्ति की सत्ता नहीं। साम्यवाद व्यक्ति का केवल भौतिक अस्तित्व स्वीकार करता है, जन्म लेने के पहले या मरने के बाद उसके लेखे शून्य हैं। इसीलिए समाज से अलग व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं। स्पष्ट है कि ऐसे समाज की कार्यप्रणाली और विचारधारा लोकतंत्री देशों से बिल्कुल भिन्न होगी। लोकतंत्र में कोई कार्य इसलिए किया जायगा कि वह व्यक्ति के स्वभाव के अनुकूल है और उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता देगा, जब-कि सम्यवादी राज्य में उसे इसलिए किया जायगा कि इससे समाज का उद्देश्य पूरा होगा। उद्देश्य भी वह जिसे साम्यवादी शासक ठीक समझते हैं।

अ-लोकतन्त्री शक्तियों का सामना

देखा गया कि जब अ-लोकतंत्री शक्तियां अपना सिर उठाती हैं, तो लोकतंत्र उनका डट कर सामना नहीं कर पाता। लोकतंत्र में उस समय जो

लोग शासन करते हैं, वे अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए प्रयत्न करते हैं और जनता के अधिकारों के अपहरण का डर दिखा कर उसे सचेत करने की कोशिश करते हैं। ऐसे मौकों पर अक्सर जनता उनकी भूलों और बुराइयों को याद करके कहती है, 'यह सब पाखण्ड है'। कभी-कभी जनता स्वयं अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उठ खड़ी होती है। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लोकतन्त्र क्रांति का डट कर मुकाबला करने में असमर्थ रहा है। बहुत-से लोग, चुनाव और शासन के परिवर्तन को बेकार की झंझट समझते हैं। वे समझते हैं कि सभी दल एक-से हैं। 'कोई नृप होय हमें का हानी'। इसलिए यदि कोई ऐसा शासक आ जाए जो जनता के व्यक्तिगत मामलों में विशेष हस्तक्षेप न करे और अच्छी तरह शासन करे, तो जनता अपना राजनीतिक अधिकार (वोट देने का अधिकार) छिनने और लोकतन्त्र का अंत होने पर आँसू नहीं बहाती।

लोकतन्त्र के प्रति यह उदासीनता इसलिए है कि लोग अभी ठीक से इसके महत्व को नहीं समझ सके हैं। वे इसे राजनीतिक अधिकार हथियाने का साधन मात्र समझते हैं। जब चुनाव के दिन आते हैं तो राजनीतिक पार्टियाँ जनता के सामने जाती हैं और उसे फुसला कर वोट ले लेती हैं। इसके बाद वे इसकी चिन्ता नहीं करतीं कि जनता में लोकतन्त्र में सच्ची आस्था पैदा हो और लोकतन्त्री भावना फैले। परिणाम यह होता है कि जनता में लोकतन्त्र का पल्ला मजबूती से नहीं जम पाता और क्रांति के सामने वह घुटने टेक देता है चाहे वह क्रांति प्रगतिशील हो चाहे प्रतिक्रियावादी। दूसरे, लोकतन्त्री देशों में जनता बिना समझे बहुत-सी बातों को मान लेती है। वह स्वतन्त्र विचार करने की आदी नहीं होती। दूसरी ओर, क्रांति हमेशा एक विचारधारा का झंडा लेकर आती है, चाहे उसका असली उद्देश्य कुछ और हो। नतीजा यह होता है कि यह नई विचारधारा विचारशून्य दिमागों पर असर डालने लगती है। अस्तु, पूरी तरह कायल न होने पर भी लोग उसे स्वीकार कर लेते हैं। शंकालु लोग डट कर किसी का मुकाबला नहीं कर सकते। जो लोग अपने सिद्धान्तों पर अटूट आस्था रखते हैं, वे ही नए विचारों की आँधी में अडिग रह सकते हैं।

तानाशाही का खतरा

इस समय स्थिति बड़ी नाजुक है। निरंकुश शासन की प्रवृत्ति जोर पर

है। साम्यवादी तानाशाही तो है ही, पर दूसरे प्रकार की तानाशाहियाँ भी है। स्पेन और पुर्तगाल मे पुराने अधिनायकतन्त्र बने है। हमारे पडोस में पाकिस्तान, फारमोसा आदि देश भी इनके शिकजे मे है। ये कहते है कि आज भी दुनियाँ में तानाशाही स्थापित की जा सकती है। कुछ ऐसी भी तानाशाही प्रवृत्तियाँ है, जिनकी चर्चा अभी कम होती है; लेकिन कुछ समय बाद वे प्रबल हो सकती है। इनमें से एक है 'टैक्नोक्रेसी' अथवा कारीगरो या शिल्पिको की तानाशाही। यह मशीन का युग है। जो काम पहले लोग मेहनत और बुद्धि से किया करते थे, वे सब धीरे-धीरे मशीन से किये जाने लगे है। अभी तो ऐसी मशीनें बनती है, धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ सकती है कि मनुष्य को कुछ करना न पड़े और सारा कार्य मशीनो के जरिये ही हो, यहाँ तक कि सोचने का भी काम मशीनें ही करें। ऐसी स्थिति में सारी सत्ता मशीन बनाने वालो या कारीगरो के हाथ मे चली जाएगी। कारीगरो का राज्य हो जाएगा। मशीन-विज्ञान के इस विकास से अन्त मे मनुष्य का फायदा होगा या नुकसान यह तो और प्रश्न है, किन्तु लोकतन्त्र का अवश्य सफाया हो जाएगा। समाज का काम तो अच्छी तरह चलेगा मगर मनुष्य दासता के शिकजे में पूरी तरह जकड़ जाएगा।

अगर सुखी जीवन केवल यही है कि लोगों को अच्छे घर मिल जाएँ, अच्छा और पर्याप्त भोजन मिलने लगे, रोग और गरीबी से छुटकारा मिल जाए तो फिर लोकतंत्र की कोई आवश्यकता नही है। किन्तु यदि आदमी आत्म-सम्मान चाहता है, अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहता है, तो उसे लोक-तंत्र अपनाना पड़ेगा। लोकतंत्र के अभाव में सारी भौतिक सुविधा होते हुए भी व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। सारे सुख से घिरे रहने पर भी व्यक्ति सदैव एक कमी का अनुभव करता रहेगा और दुखी रहेगा।

लोकतन्त्र के सिद्धांतों का प्रचार

लोकतंत्र के सिद्धांत पुस्तकों मे ही नही रहने चाहिएँ, उनका प्रवेश जनता के जीवन में होना चाहिए। लोकतंत्रवादी कहता है कि जनता हमारी मालिक है, किन्तु कोई यह नही समझना कि यदि अपने मालिक को गुलाम नहीं

होने देना है तो उन्हें शिक्षित करना जरूरी है। लोकतंत्र में लोगों को आधुनिक विज्ञान तथा अन्य विषयों का इतना ज्ञान तो होना ही चाहिए कि आज जो नये-नये विकास हो रहे हैं, उन्हें वे समझ सकें। यदि ऐसा न हुआ तो विज्ञान को वे जादूगरी और वैज्ञानिक और कारीगर को जादूगर समझ बैठेंगे और उनके वश में रहेंगे। यह याद रखना चाहिए कि विज्ञान और टैक्नोलोजी स्वयं साध्य नहीं है, बल्कि जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। ये पूजा की नहीं वरन् उपयोग की वस्तु है। इसके अतिरिक्त लोगों को सामाजिक विज्ञान विशेष रूप से, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की भी शिक्षा दी जानी चाहिए। ऐसा होने पर ही वे अपना उत्तरदायित्व समझ सकेंगे। वस्तुतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि उसके द्वारा लोग व्यक्ति की गरिमा का आदर करना सीखें। व्यक्ति की स्वतंत्रता का, उसकी आत्मा और इयत्ता का सम्मान होना चाहिए, इसी के बल पर मनुष्य की उन्नति करता आया है। व्यक्ति की इयत्ता का वैसा ही आदर होना चाहिए जैसा धर्म का। व्यक्तित्व या आत्म-शक्ति ऐसी शक्ति है, जिसने मनुष्य के विचार में सहायता दी है और जो सतत विकासमान है। जब यह समझा जाएगा कि मानव आत्मा अमर है और स्वतन्त्रता उसका नैसर्गिक गुण है, मानवात्मा मूलतः एक है, इसलिए सब लोग सिद्धांततः समान हैं, तथा सब को विकास की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, तभी लोकतंत्र की जड़ें मजबूत होंगी। ये बातें दार्शनिक कल्पना-जैसी मालूम पड़ेंगी, किन्तु यदि भौतिकवाद का सामना करना है तो इन सिद्धांतों को अंगीकार करना होगा।

लोकतंत्र की शिक्षा केवल वोट देने और विधान सभा के कार्य की प्रणाली सिखाने से पूरी नहीं होती। ये तो उसके बाह्य उपकरण हैं। उसका मूल तत्व तो ऊपर बताया गया है, इसी को हृदयंगम करना चाहिए। यही सबसे मुख्य बात है। यह हो जाने पर, तो शासन का कोई भी तरीका सरलता से निकाला जा सकता है।

भारतवर्ष में भी आज साम्यवाद तथा अन्य प्रकार की तानाशाही प्रवृत्तियों का आक्रमण हो रहा है। हमारे यहाँ की सामाजिक विषमता और गरीबी के कारण इनके प्रबल होने की और अधिक सम्भावना है। लोग इन

कष्टों से राहत पाने के लिए लोकतंत्र को त्याग कर दूसरे तरीके आजमाने को तैयार हो जाएँगे। पश्चिमी तरीके के लोकतन्त्र का अनुभव हमको बहुत सुखद नहीं हुआ है और इसमें बहुत-से लोग हैं, जो इसे त्यागने को तैयार हो जाएँगे। हम में बहुत-से लोग यह समझते हैं कि हम तानाशाही का तरीका अपना कर शीघ्र उन्नति कर सकते हैं और इसमें हमें मानवता का हनन न करना होगा, किन्तु यह भ्रम है।

आज हमारे विचारकों और शासकों का सबसे बड़ा काम है कि वे जनता को बताएँ कि लोकतंत्र का नाश होने से कितनी हानि होगी और उचित शिक्षा द्वारा जनता को लोकतंत्र का सच्चा अर्थ बताएँ और उसकी भावना भरें। भारत की आध्यात्मिक परम्परा से भी इस कार्य में बड़ी सहायता मिल सकती है।

डा० प्रभाकर माचवे

डा० प्रभाकर माचवे हिन्दी के मराठी-भाषी लेखक हैं। वे कवि, समीक्षक और निबन्धकार के रूप में सुप्रतिष्ठित हैं और हिन्दी में नव-लेखन की पहली पीढ़ी के मान्य साहित्यकार हैं। उनके निबन्ध व्यक्तिपरक निबन्धों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, पर उनका एक लेख जो यहाँ लिया गया है, वह अमरीका-प्रवास में भारतीय स्त्रियों के सम्बन्ध में विदेशियों के दृष्टिकोण को प्रकट करता है। हमारे समाज के सम्बन्ध में अन्य समाज के व्यक्तियों के मन्तव्य दिलचस्प होते हैं क्योंकि उनके माध्यम से हम यह विचार करने के लिए बाध्य होते हैं कि कहाँ तक हम दोषी हैं और कहाँ तक देखने वाली नजरें।

[३]

भारतीय स्त्रियां

(अमरीका और यूरोप में)

—डा० प्रभाकर माचवे

प्रायः दो वर्ष दिल्ली में रहे हुए एक अमरीकी समाजशास्त्रज्ञ प्रोफेसर अमरीका के एक विश्वविद्यालय मे 'इंडिया असोसियेसन' मे चित्रों सहित व्याख्यान दे रहे थे । एक चित्र दो भारतीय लड़कियों का साड़ी सहित दिखाया— "देखिए भारतीय सौन्दर्य, कितना नानावर्णी, रंगीन" कह कर साथ ही चुटकी ली, "पता नहीं यन्त्र-युग में यह पोशाक कब तक चलेगी ? जब तक यह ढीली-ढाली लिपटी-सी चादरें भारत की स्त्रियाँ नहीं छोड़तीं; तब तक उस देश मे औद्योगिक प्रगति नहीं आवेगी । जब स्त्रियाँ काम करने लगेंगी तो उन्हें हमारी (पश्चिमी) वेश-भूषा अपनानी ही होगी !"

सैकड़ों भारतीय चुपचाप सुनते रहे । मैंने व्याख्यान के बाद बहस शुरु की और पूछा, आपकी विदेशी स्त्रियाँ क्यों 'साड़ी' की इतनी तारीफ करती हैं, और वे पहनना चाहती हैं ?" कुछ महीनों पहले उन्हीं प्रोफेसर महोदय की पत्नी की कई रंगीन तस्वीरें भारतीय साड़ी में स्थानीय दैनिक में छपी पाई गई थीं ।

प्रोफेसर का तर्क यह था कि पोशाक सामन्ती जमाने में अच्छी थी, हाथी को सवारी और जुलूसों में अच्छी हो सकती है, पर रोजमर्रा के काम की नहीं । देखिए न, इतने घुटने-घुटने वर्फ-पानी-कीचड़ में गीली-लथ-पथ साड़ी के छोर ऊपर पकड़े लम्बा-सा रेनकोट और ऊँची एड़ी के जूते पहने कैम्पस पर की थोड़ी-सी भारतीय महिलाएँ कितनी कष्ट में चलती हैं ! और तब 'टाइम्स' में अनीता मल्लिक के किसी लेख का हवाला दिया गया था; "विदेशी स्त्रियाँ, झाऊ जैसे बाल और अनसँवरी-सी साड़ी पहने बहुत भद्दी लगती हैं !"

केवल वेष-भूषा ही नहीं भारतीय स्त्री के जो विशेष गुण हम मानते हैं, जैसे शील, संकोच, लज्जा, मर्यादा, सहिष्णुता, पति-सेवा, आतिथ्य आदि; वे ही गोरी नजरो में एकदम पिछड़ेपन के लक्षण समझे जाते हैं। मराठी उपन्यासकार श्री ना० पेडसे ने अपनी विदेशी-यात्रा के दौरान में लिखे एक पत्र में बहुत मनोरंजक संस्मरण दिया है, "और इस बात पर वह (विदेशी लड़की) लजाई। सिन्दूरी पड गई। अपने छह महीने के प्रवास में पहली बार मैंने देखा कि सहज लज्जा की लालिमा किसी नारी-मुख पर झलकी हो !" वैसे वहाँ रंग तो हमेशा ही चेहरे पर रहता है, चाहे मुख फीका हो, विवर्ण हो या रागारुण ! रंग एक पर्त, एक मुखौश सही।

अलग-अलग कौमों और जातियों की अलग-अलग मान्यताएँ (मोरेस) होती है। परन्तु यह भारतीय स्त्री की 'सहिष्णुता' क्या है ? गोरी नजरों में यह रोनी-रोनी कहानी-उपन्यास की नायिकाएँ, यह सदा पति का तिरस्कार, उपेक्षा और भर्त्सना सहने वाली सती-साध्वियाँ बिल्कुल समझ में नहीं आती। मेरी एक विद्यार्थिनी ने 'भारतीय कहानियो मे स्त्री' विषय पर मेरे 'आधुनिक भारतीय साहित्य' कोर्स में निबन्ध लिखा था। उसने इतने गलत ढंग से सारी कहानियों को समझा था–उसमें हमारे समाज-शास्त्र की दृष्टि से पिछड़ेपन का उल्लेख था, बेपढ़ेपन को वजह से ऐसा होता है, और प्रच्छन्न रूप से हिन्दू-धर्म में "सुकन्या सुगृहिणी, सुमाता" के आदर्श पर गहरा व्यंग्य और आघात था।

कई बार व्याख्यानों के बाद प्रश्न पूछे गये है

—क्या भारत में सती-प्रथा अब भी जारी है ?

—क्या भारत में स्त्री कमाती नहीं ? वह पति की आमदनी पर जीती है ?

—क्या भारत की स्त्रियाँ बच्चे पैदा करना अपना 'धर्म' समझती हैं ? इसलिए वहाँ परिवार-नियोजन सफल नहीं ?

—क्या भारत कि स्त्रियाँ सिगरेट नहीं पीतीं ?

—क्या भारत की स्त्रियां पुरुषों के साथ नाचना नहीं चाहतीं ?

—क्या भारत की स्त्री की शादी उससे बिना पूछे की जाती है'

—क्या भारत में स्त्री को कोई कानूनी हस्ती नहीं ?

—क्या भारतीय स्त्री रोज भगवान से यही प्रार्थना करती है कि हर नये जन्म में वह उसी पति की स्त्री बने ?

—क्या भारतीय स्त्री भारी गहने पहनने से आजिज नहीं आती ?

—क्या भारतीय स्त्री अभी भी बुर्का पहनती है ? या घूंघट काढ़ती है ?

तब उन्हें बताना पड़ा कि भारत में प्रत्येक प्रौढ़ स्त्री-पुरुष को मताधिकार है। भारत के मन्त्रिमण्डल में स्त्रियाँ हैं, राजदूत स्त्रियाँ है, युनेस्को के प्रतिनिधिमण्डल में स्त्रियाँ हैं, कला-साहित्य के क्षेत्र में स्त्रियों को बड़ी देन है। रामकृष्ण मिशन से छपे 'वीमन इन इण्डिया' की प्रतियाँ दीं, सूचना-प्रसारण मन्त्रालय से प्रकाशित अंग्रेजी ग्रन्थ दिखाया। पर वे पुस्तकों से मानने को ही तैयार नहीं; रंगीन स्लाइड सहित प्रत्यक्ष जीवन के फोटो दूसरी ही कहानी उन्हें सुनाते हैं।

अब जो स्त्रियाँ विदेश में पढ़ने, या डेलीगेशनों में काम करने के लिए पहुँचती भी हैं उनसे भी गोरी नजरें ये निष्कर्ष निकालती हैं, और कई बार उन्हें यह गलत जानकारी खुद भारतीयों से ही मिलती रहती हैः भारतीय स्त्रियाँ कुंकुम-तिलक जो लगाती हैं, वह 'कास्ट-मार्क' है, भारतीय लड़की इसलिए 'डेटिंग' नहीं करती (पुरुष के साथ अकेली सिनेमा या भोजन के लिए जाना, अपरिचय को परिचय में बढ़ाते जाना 'डेटिंग' प्रथा कहलाती है) कि उसके बाद लड़की को बदचलन कह देंगे और उसकी शादी नहीं हो सकेगी; भारतीय स्त्री किसी भी घर में इसलिए खाना नहीं खाती कि उसका 'धर्म' बिगड़ जाने का डर है—वह 'स्वयपाकिनी' होती है, भारतीय स्त्री अकेली बहुत कम नाच दिखाती है (व्यावसायिक या शौकिया कलाकार अपवाद छोड़ कर), वह सदा सामूहिक-नृत्य (जैसे गरबा आदि) में ही भाग लेती है। भारतीय स्त्री खेल-कूद पसन्द नहीं करती;

भारतीय स्त्री भारतीय पुरुषों के साथ स्टेज पर नाटक करने के लिए बहुत कम आना पसन्द करती है: भारतीय स्त्री बहुत अधिक भावुकतापूर्ण, कोमल-स्वभाविनी, छुई-मुई-सी होती है अपवाद इन सब बातों के सब जगह पाये जाते हैं: पर कुल मिला कर भारतीय स्त्री की जो तस्वीर गोरी निगाहों में है वह कुछ-कुछ ताम्बिमुत्त् के "लव-सांग्ज आफ इण्डिया" की नायिकाओं की भाँति, सदा विरह-विप्रलब्धा, आहें जारी करने वाली, दुखियारी और आत्म-पीड़न में आनन्द लेने वाली उपस्थित की जाती है।

फिर उसमें हमारी इक्की-दुक्की फिल्में विदेश में पहुँच जाती हैं। सत्यजित राय की अमर तीन फिल्में 'पथेर पांचाली', 'अपराजिता' और 'अपूर संसार' अपवाद है। अधिकतर तो 'एक ही रास्ता', 'शराब', 'नई राह', बूट पालिश' वगैरह पहुँचती है; उनमें दिखाई जाने वाली भारतीय नारी--बस खुदा ही हाफिज है !

गोरी नजरों में भारतीय स्त्री का एक आदर्श रूप भी कभी-कभी चमक जाता है और वे बार-बार कुतूहल से स्वतन्त्रता-संग्राम की वीर नारियों के बारे में पूछते रहते हैं। मीराबाई से ज्यादा उन्हें सेंट टेरेसा या रानी लक्ष्मीबाई से अधिक जोन आफ आर्क अधिक परिचित और निकट की हैं। पर इधर की कई ऐसी महिलाएँ जैसे सिस्टर निवेदिता या मीराबेन, स्वयं विदेशिनी होकर भारतीय महापुरुषों की शिष्याएँ एक आश्चर्यवाचक चिन्ह गोरी नजरों में उपस्थित करती हैं। कस्तूर बा के बारे में बहुत कुतूहल से प्रश्न पूछे जाते है। सेंट लुई से स्त्रियों की एक सभा में एक महिला ने बहुत ताव से पूछा-'महात्मा गांधी ने अपनी पत्नी के साथ बड़ा अत्याचार किया ? उसका विकास नहीं होने दिया।" बल्कि मैडिसन के एक रविवासरीय पत्र में यहाँ तक छपा था कि कस्तूर बा इसलिए मर गयी कि उनके पति ने उन्हें अंग्रेजी दवा देने से रोका। जहाँ-जहाँ मै अमरीका में गया 'मदाम पंडित'—ऐसा ही वहाँ के लोग नेहरु जी की बहिन विजयलक्ष्मी को पुकारते हैं--के प्रति अगाध प्रशंसा और प्रेमादर पाया। उनकी वक्तृता, सूझ-समझ, रूप-सज्जा, मिलनसारिता सबके लिए बड़े ही अच्छे विशेषण प्रयुक्त होते थे।

एक और टाइप जो भारतीय स्त्री का विदेशी की समझ में आता है, -वह है विदेश में बस गयी ख्यातिप्राप्त लेखिकाएँ या अन्य क्षेत्र में गण्यमान्य थोड़े समय के लिए वहाँ गयीं स्त्रियाँ। जैसे शान्ता रामाराव या कमला मार्कण्डेय या डॉक्टर इरावती कर्वे या इन्द्राणी रहमान या सूर्यकुमारी या रुक्मिणी अरुण्डेल या अन्य। वैसे हर कैम्पस (विश्वविद्यालय के क्षेत्र) में एक-दो भारतीय विद्यार्थिनियों या कार्यकर्त्रियों के विषय में बड़े अच्छे उद्गार सुनने को मिलते हैं: 'बड़ी मिहनती और सुशील लड़की है!'' "खाना कितना अच्छा बना लेती है और पति के साथ काम भी करती हैं! आश्चर्य !!'' "बच्चों की संभाल कितने प्रेम से करती है", "देखिए, अमुक को साइन्स में इतने अच्छे नम्बर मिले हैं" इनमें कुछ अपना ही विशेष 'कल्चर' है, 'भारतीयता' है, जो भारत के लड़कों में बहुत कम मिलती है—एक तरह का 'माडरेशन' (संयम) " "ऐसे कई रिमार्क मैंने सुने हैं।

इससे उलटे भी कुछ अपवाद मैंने देखे हैं, ऊपर दो लम्बी वेणियाँ, माँग में सेंदुर, कपाल पर टीका, कानों में फुन्दने और नीचे जिन्स पहने हुए 'कारटून' जैसे स्त्री-रूप भी देखे हैं; अपने बच्चों को जबर्दस्ती मांस खाना और काँटे-छुरी का इस्तेमाल सिखलाने वाली,.एक जमाने में भारत में कट्टर हिन्दू-संघी विचारों की स्त्री भी देखी है; विदेश में ही बस जाना अच्छा है ऐसा चाहने वाली धनिक कन्याएँ और विदेश के सभी आचार-व्यवहार भारत में शीघ्रातिशीघ्र चालू करना चाहिए ऐसा मानने वाली एक-दो पंजाबिन और सिन्धिन बहनों से भी बहस करनी पड़ी है। दक्षिण भारतीय लड़कियों को जहाँ एक ओर वीणा बजाते हुए देखा है, वहाँ लोक-नृत्य दिखाते हुए भी देखा है। धुंआधार सिगरेट पर सिगरेट पीने वाली एक-दो भारतीय स्त्रियाँ देखी हैं, वहाँ अचानक-गृह में विदेशियों के साथ नृत्य करने वाली कुछ भारतीय लड़कियाँ भी देखी हैं। गर्चे, सभी भारत की 'सन्नारियाँ' विदेश में जाकर सीता-सावित्री की हाथी-दाँत की मूर्तियाँ या चन्दन की-सी काठमारी नहीं होती।

संक्षेप में, गोरी नजरों में, भारतीय स्त्री के प्रति जहाँ एक ओर उसकी श्रद्धा और अपरिमित धैर्य की प्रशंसा चमकती नजर आती है; वहाँ दूसरी ओर

उसकी निरक्षरता, रूढिवादिता, अज्ञान और अपरिमित-अपरिवर्तनीयता के प्रति एकदम अविश्वास और अप्रेम भी दिखाई देता है। जहाँ एक ओर कैलिफोर्निया में एक अमरीकी प्रोफेसर ने कहा कि "अब तो अमरीकी युवक पूर्वीय देशों की पत्नियाँ अधिक पसन्द करते हैं, चूंकि उनके प्रेम के स्थायित्व में उनका विश्वास है।" वहाँ दूसरी ओर फ्रांस में मुझे एक सज्जन ने यह भी पूछा कि "क्या भारतीय स्त्री में कोई 'स्वेच्छा' नामक वस्तु भी होती है--जब माँ-बाप शादी तय करते हैं, पति के भरोसे पर वह जीती है, विधवा होने पर बेटा पालता है?" मनु महाराज की छाया अब भी बहुत लम्बी-लम्बी और दिल को दहलाने वाली नजर आती है; और फिर लोक-सभा, राज्य-सभा मिल कर दहेज-बिल पास करते हैं; गोरों को हँसने का एक और मौका मिलता है--"अच्छा, अब तक आपके यहाँ कन्या-विक्रय था? चुप-चुप, बोलो मत. यह 'धर्म' का भाग है!!"

परिवार-नियोजन असफल हो रहा है, चूंकि भारतीय स्त्री की उसमें पूरी स्वीकृति नहीं, ऐसा भी प्रचार अमरीकी टेलीविजन, रेडियो, अखबारों द्वारा किया जाता है। भारतीय स्त्री बहु-शिशु-प्रिया है--ऐसा भी एक 'भ्रम' फैलाया जाता है और चीन आदि देशों से तुलना की जाती है। बहु-विवाह के विषय में भी कई भ्रान्तियाँ हैं; मुस्लिम, सिख आदि जमातों से उदाहरण दिये जाते हैं। भारत के गाँव-गाँव में जाति-भेद न टूटने देने में स्त्रियों का और संयुक्त परिवारों का बड़ा हाथ है, ऐसा भी एक मत पश्चिमी समाज-शास्त्रियों का प्रिय पूर्व-ग्रह है। देखना है कि इन सब दोषों के मामले में कहाँ तक हम उत्तरदायी हैं; या 'गोरी नजरें?'

जैनेन्द्रकुमार

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा-साहित्य को अभिनव दिशा देने का श्रेय श्री जैनेन्द्रकुमार को है। सामाजिक समस्याओं के स्थान पर उनकी कथा-कृतियों में व्यक्ति-जीवन की समस्याओं को प्रमुखता मिली। निबन्ध के क्षेत्र में भी उनका कृतित्व उल्लेख्य है। वे विचारों से गाँधीवादी हैं। किसी समस्या के आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक पहलू को ही मुख्य न मानकर वे उसके नैतिक पक्ष पर प्रकाश डालते हैं। प्रस्तुत लेख में पाप के प्रति रूढ़िगत नैतिकता का विरोध करते हुए वे मानते हैं कि पाप के प्रति घृणा अहंकार है और अहंकार स्वयं पाप है, पाप के प्रति करुणा में ही द्वन्द्व का शमन होता है—पाप का परिहार होगा तो इस पद्धति से होगा कि 'सज्जन अपने अन्दर दुर्जनता टटोल देखें और उधर दुर्जन के अन्दर की सज्जनता पहचानें और उसे प्रकट करें।' जैनेन्द्र हिन्दी के दार्शनिक (यदि कहा जा सके ?) और नीतिविद् निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों में उनकी निजी जीवन-धारणाएँ व्यक्त होती हैं। उनकी शैली की विशेषता है-- सहज होते भी असहज होना, वह जितना व्यक्त करती है उससे अधिक अव्यक्त भी रह जाता है (यह उनके कथा-साहित्य की भी विशेषता है।) वे ऐसे लिखते हैं जैसे अपने से प्रश्न-कर रहे हों या फिर जैसे किसी से बतिया रहे हों। भाषा उनकी कृत्रिम भी है, सहज भी। वे बोलकर लिखाते हैं, अतः वह व्याकरण के नियमों में बँधकर नहीं चलती, कभी इधर-उधर भी हो जाती है किन्तु कम।

[४]

इतस्ततः

—जैनेन्द्रकुमार

पाप का सवाल एक बहुत बड़ा सवाल है। पाप समाप्त हो तो धर्म अनावश्यक हो जाता है। परम आस्तिक और परम नास्तिक दर्शन यही कहते हैं। आस्तिक कहता है कि तुम कुछ नहीं करते, सब परमेश्वर करता है। जो कुछ करता ही नहीं, कर सकता ही नहीं, वह पाप कैसे करेगा। दूसरी ओर परम नास्तिक दर्शन भी कर्तृत्व को आदमी से अलग कर देता है। जो हो रहा है, और तुम कर रहे हो, विकास में अन्तर्भूत ऐतिहासिक शक्तियों से हो रहा है। हर कोई है वह जो परिस्थितियों ने उसे बनाया है। उसका चाहना और करना इस तरह उसका अपना नहीं है। कुछ और कोई परिस्थितियों से स्वतंत्र नहीं है, सब "कंडिशन्ड" है। पदार्थ की ओर से यह इतिनिश्चितिका (डिटरमिनिस्ट) दर्शन इस तरह पाप को उड़ा देता है। साध्य में लीन हो तो साधन में पाप-पुण्य का प्रश्न ही नहीं रह जाता। उस तरह आस्तिक और नास्तिक दोनों दर्शन एक ऐसी श्रद्धा दे डालते हैं जिसमें पाप के भय से आदमी ऊंचा हो जाता है। पहला आदमी कहता है कि मैं ब्रह्म हूं, दूसरा मानता है कि इतिहास में हूं। ऐसे अकार्य कुछ रहता नहीं, क्योंकि कार्य ही नहीं रह जाता। बस होनहार होते जाने को रहता है। केवल क्रिया होती है, कर्त्ता और कर्त्तव्य मिट जाता है।

ऊपर की दोनों आस्थाएं आसानी से नहीं प्राप्त होतीं। बड़े अभ्यास की जरूरत पड़ती है। इसलिए एक सुगम उपाय भी आदमी ने निकाला है। वह उपाय है, नशा। अन्दर की भावनाओं में से पक्कापन पाने में जोर पड़ता हो तो शराब जैसी चीजों के सहारे एक नशा आसानी से सिद्ध किया जा सकता है। योगी जन सुल्फा, गांजा और चरस जैसे द्रव्यों की सहायता लेते सुने जाते हैं। भारतीय पद्धति वाले अमरीकी लेखक आल्डस हक्सले ने एक नई बूटी खोज निकाली है और पुस्तक लिखकर उसका स्तवन किया है। उस बूटी से अध्यात्म-समाधि सहज होती है।......नशों का लाभ यह होता है कि आदमी इधर-उधर

का बहुत कुछ नीचे छोड देता है और स्वप्न में अपने को पहुँचा लेता है। तब अंदर कोई खाने और कुतरने वाली चीज महसूस नहीं होती और जो सामान्यतः संभव नहीं है उसी की सामर्थ्य भीतर से निकल आती है।

कहते हैं नशीली चीजों से मिलने वाला भ्रम थोडी देर ठहरता है, अपने अंदर के जोर से पकाया गया विश्वास देर तक टिकता है। वह जीवन भर काम दे जाता है। इस विश्वास की पद्धति के सहारे जो पाप से उठते है महापुरुष समझे जाते हैं। इतिहास उन्हें याद रखता है। वे रण की ललकार जगाते हों और लाखों की जान और करोडो का माल नष्ट-भ्रष्ट करते हों तो भी उनकी महापुरुषता में क्षति नहीं आती। कारण, प्रेरणा उन्हें सिद्धान्त की होती है। नशा वस्तु से मिलता है, सिद्धात से मिला "इन्सपिरेशन" कहलाता है।

ऐसे उत्तर और उत्तम पुरुषो की बात मैं नहीं करता। पाप के सवाल के लिए वे संगत नहीं हैं। शेर शिकार करता है तो पाप करता है? इसी तरह मानव जाति के सिंहपुरुषों को विचार से बाहर मानिए। पाप करते भी होंगे तो इतना विशाल, इतना महान, इतना चमत्कारी होता है कि उसके आगे माथे को विस्मय में उठाना या स्तुति मे झुकाना ही पडता है। पाप की बात सामान्य जन की है।

सच यह है कि सब हम सामान्य है। शराब हम मे से कोई जरूरत से ज्यादा चढा ले तो वही असामान्य दीख आयेगा। ऐसी असामान्यता जहाँ प्रकट हो वहाँ हम उसे विचार के लिए अनावश्यक कर देते हैं। "अरे-अरे शराबी है, बेचारे को रहने दो!" असल मे इसी भाव से मानवोत्तर और मानवोत्तम को फिलहाल अलग किया जा सकता है। यो पाप के प्रयोग से बरी वे भी नहीं है। सिर्फ नशा उन्हें तेज होता है, उसमे अंदर की कुरेद का पता वे खो रहते है।

तो पाप है, इसलिए नहीं कि ईश्वर ने उसकी सृष्टि की है, बल्कि इसलिए कि मनुष्य को उन्नति करनी है। वह वर्त्तमान से आगे भविष्य को देखता है, और वर्त्तमान को व्यतीत से जोडकर देखना चाहता है। वह क्षमता उसमे आकाक्षा और विवेक को पैदा करती है। पशु सिर्फ होता है, चाहना

सोचना उसमें होने से अलग नहीं है । आदमी की चाह सदा होने (प्राप्त) से आगे सदा अनहोने (अप्राप्य) की ओर जाती है । इस तरह प्राप्त और प्राप्य में मनुष्य के भीतर सदा ही एक तनाव रहता है। इसी में से कर्म उपजता है और मनुष्य प्रगति करता है । जैसे दाएँ-बाएँ पैर से चला जाता है वैसे ही पाप-पुण्य के विवेक से ऊपर को उठा जाता है । पाप का होना इस दृष्टि से सृष्टि विधान में गलत नहीं रह जाता, बल्कि बेहद जरूरी हो जाता है। कारण, उसके अभाव में स्थिति से भिन्न हम गति की कल्पना ही नहीं कर सकते। तब सारा पुरुषार्थ गिर जाता है और विकास की क्रिया रुक जाती है।

पाप वह जिसमें हम खिचते हैं और खिचना नहीं चाहते । जिसे आधा मन चाहता है, आधा एकदम नहीं चाहता जो हमें स्वाद में अच्छा लगता है, परिणाम में बुरा लगता है। पाप इस तरह आदमी के अपने अंदर के द्वन्द्व में बसता है। पशु की पशुता में पाप नहीं है, पाप मनुष्य की पशुता में है। अर्थात् पशुता को पाप नहीं कहा जा सकता; पाप का प्रवेश तभी होता है जब प्राणी निरा पशु नहीं है मनुष्य भी है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि पाप की स्थिति बिना पुण्य के हो नहीं सकती।

पाप का क्या करें ? कैसे उसे जानें ? कैसे झेलें और भुगतें ? पाप को यों ही तो अपनाया नहीं जाता। जैसे अच्छा काम करने में जोर पड़ता है, वैसे ही बुरा काम करने में जोर पड़ता है, बल्कि ज्यादा जोर पड़ता है। किसने चोरी की है और शुरू में डर नहीं लगा ? जार कब कायर नहीं हुआ ? पाप और भय का अभिन्न संग है। यानी कभी नहीं हो सकता कि पाप को निर्णय मन से अपनाया जा सके। भय में से पाप की उपज है।

यहाँ आवश्यक है हम समझ लें कि पाप अपराध नहीं है। अपराध समाज से बनता है। संत जन अपराधी माने गये हैं और दंडित हुए। गांधी ने जेल पर जेल पायी। अपराध के कारण ही बार बार उन्हें कैद में डाला गया। पर इन अपराधों में पाप कहीं था ही नहीं। इस तरह पाप स्वापेक्ष (सब्जेक्टिव) वस्तु है। समाज की ओर से उसका इलाज बन नहीं सकता। चोर की चोरी को

सजा में हमने जेल भेजा, पर मन को जेल कहां हो पायी ? मान लीजिए कि चोरी पकड़ी नहीं जाती, या कि नहीं सिर्फ चाही जाती है, तब पाप तो उग गया, पर समाज किसी तरह उसे छू या छेड़ नहीं सकता। इसी तरह समाज की ओर से किये गये सब उपाय अपराध तक रह जाते हैं, पाप तक नहीं पहुँच पाते।

पाप के सवाल को जो चीज छू और समाप्त सकती है, वह है मनुष्य के भीतर चलने वाली आन्तरिक क्रिया। सत्-असत् में भेद करने वाली एक अनिवार्य प्रक्रिया है जिसको मनुष्य के भीतर से लाख प्रयत्न करने पर भी मेटा नहीं जा सकता, उसे विवेक कहते हैं। अक्सर उस विवेक से हम सत् और असत् के टक्कर की प्रेरणा लिया करते हैं। यानी माने हुए सत् से अपने में माने हुए असत् को सीधे-सीधे लड़ाते हैं। पाप की वासना को नीति की धारणा से दबाते हैं। इसको संयम कहा जाता है।

कथाओं-पुराणों में असंख्य उदाहरण हैं, और हम सबके जीवनों में उतने ही असंख्य अनुभव हैं, कि उग्र आग्रह खंडित होता है। हठ टूटता है और जय उस राह व्यक्ति की नहीं पाप की होती देखी जाती है। व्यक्ति करता है वह जो नहीं चाहता है कि करे। बहुतेरा झगड़ता है, पर अन्त में बस ही नहीं चलता। यह आत्म-अनुभव है।

ऐसा क्यों होता है ? व्यक्ति का उत्तम क्यों अपने अधम से हारता है ? क्यों है कि इस द्वन्द्व में सदा व्यक्ति पराभूत हुआ है, संकल्प क्यों सदा टूटा ही है ? क्यों है कि होनहार कभी भी व्यक्ति के अनुसार नहीं होता है, अपने ही अनुसार होता है। इसके मूल में जायें तो शायद पता लगेगा कि कुछ है जो हर व्यक्ति और उसके हर संकल्प से अमोघ है और अनिवार्य है। उस अमोघ-अनिवार्य का नाम है ईश्वर। वही सत्य। इस स्वीकृति में से प्रार्थना और अकिंचनता की प्राप्ति होती है। मनुष्य का संकल्प टूटेगा, बिखरेगा, अगर नीचे उसके इस प्रार्थना-मय आकिंचन्य का बल नहीं है। "मैं जीतने वाला नहीं है, जीतेगा सत्य। इस-लिए वह संयम और वह संकल्प जो सारा बल "मैं" से प्राप्त करता है, पाप को जीत नहीं पायेगा। उलटे अन्त में वह पाप की ही विजय का उपादान होगा।

अहंकार पाप का निमंत्रण है और स्वयं पाप है। इसलिए उस आधार पर जड़ जमाकर खड़ा होने वाला मनोबल (विल पावर) और उसमें से निकलने वाला स्पर्द्धापूर्ण यम-नियम-संयम और तप-त्याग-तपस्या का सिद्धान्त अन्त में अकृतार्थ ही होगा। कारण, यह अहं पुण्य के जोर से अहं पाप को जीतने का उपाय है। पर पुण्य-पाप की तो जोड़ी है और अहंता से जुड़ी है। अतः द्वन्द्व का शमन तो सत्य में है। वहां पाप के प्रति हठ नहीं करुणा है और पुण्य में आकांक्षा नहीं समता है। सत्य वह जहां अविभक्तता है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में और सत्ता-संपत्ति को लेकर अक्सर मनों में कामनाएं उठती हैं जिनके साथ पाप का बोध चलता है। नैतिक मत-मान्यताएं उस बोध को उपजाती और तीखा करती है। उसका निपटारा दुर्जन और सज्जन के 'सु' और 'कु' के, दो वर्ग खड़ा करने और उनके विग्रह को तीक्ष्ण करने से नहीं होगा। होगा यदि तो इस पद्धति से कि सज्जन अपने अन्दर दुर्जनता टटोल देखें और उधर दुर्जन के अन्दर की सज्जनता पहचानें और उसे प्रकट करें।
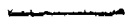
आचार्य विनोबा भावे

भूदान-यज्ञ के प्रणेता विनोबा भावे शीर्षस्थ गांधीवादी विचारक हैं। वे प्राचीन दर्शन और साहित्य के मर्मज्ञ हैं और उनका अपनी दृष्टि से उन्होंने आलोडन किया है। उनके जीवन के समान ही उनका लेखन भी समाज-हित के लिए समर्पित है। 'लोकमान्य के चरणों में' न केवल एक महापुरुष को भाव-भीनी श्रद्धांजलि है, महत् आचरण के लिए प्रबोध देने वाला सन्देश भी है। हमें महापुरुषों के चारित्र्य का अनुकरण करना चाहिए न कि चरित्र का। उन्होंने जीवन में जो-जो कार्य किये उनका करना सम्भव नहीं है, पर उन्होंने जिस वृत्ति से अपना जीवन बिताया उसका अनुसरण हमें करना चाहिए। तिलक का त्यागमय जीवन उच्चादर्शों की साधना के लिए प्रेरणा का महान् उत्स है।

[५]

लोकमान्य के चरणों में

—आचार्य विनोबा भावे

१९२० में तिलक शरीर-रूप से हमारे बीच नहीं रहे। उस समय मैं बम्बई गया था। चार-पाँच दिन पहले ही पहुँचा था; परन्तु डाक्टर ने कहा, "अभी कोई डर नहीं है।" इसलिए मैं एक काम से साबरमती जाने को रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊँगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यन्त निकट के आत्मीय, सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझ पर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिन से जीवन में कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो, कोई बहुत ही प्रेम करने वाला कुटुम्बी चल बसा हो। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है आज इतने बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करता हूँ। लोकमान्य के चरणों में अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि मैं अपनी गहरी श्रद्धा के कारण चढ़ा रहा हूँ।

तिलक के विषय में जब कुछ कहने लगता हूँ तो मुँह से शब्द निकलना कठिन हो जाता है। गद्‌गद् हो उठता हूँ। साधु-सन्तों का नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है, वही इस नाम से भी होती है। मैं अपने चित्त का भाव ही प्रकट नहीं कर सकता। उत्कट भावना को शब्दों में व्यक्त करना कठिन होता है। गीता का भी नाम लेते ही मेरी ऐसी स्थिति हो जाती है, मानो स्फूर्ति का संचार हो जाता है। भावनाओं की प्रचण्ड बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है। परन्तु यह बड़प्पन मेरा नहीं है। बड़प्पन गीता का है। यही हाल तिलक के नाम का है। मैं तुलना नहीं करता; क्योंकि तुलना में सदा दोष आ जाते हैं; परन्तु जिनके नाम-स्मरण में ऐसी स्फूर्ति देने की शक्ति है, उन्हीं में से तिलक भी हैं, मानो उनके स्मरण में ही शक्ति संचित है। राम-नाम को ही देखिए। कितने जड़ जीवों का इस नाम के स्मरण से उद्धार

हो गया, इनकी गिनती कौन करेगा ? अनेक आन्दोलन, अनेक ग्रन्थ, इतिहास, पुराण—इनमें से किसी भी चीज का उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि राम-नाम का हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रों का उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्यों का विकास हुआ और लय हुआ। किन्तु राम-नाम की सत्ता अबाधित रूप से विद्यमान है। तुलसीदासजी ने कहा है—"कहऊ नाम बड़ राम तें।—हे राम, मुझे तुझसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समय के अयोध्यावासियों ने और उस जमाने के नर-वानरों ने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं, लेकिन तेरा नाम है! जो महिमा तेरे नाम में है, वह तेरे रूप में नहीं। हे राम, तूने शबरी, जटायु आदि का उद्धार किया। लेकिन वे तो सुसेवक थे। इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं; परन्तु तेरे नाम ने अनेक खलजनों का उद्धार किया, यह वेद कहते हैं।"

तुलसीदासजी कहते हैं. राम की महिमा गाने वाले मूढ़ हैं। राम ने तो बड़े-बड़े सेवकों का ही उद्धार किया है। परन्तु नाम ने ? नाम ने असंख्य जड़-मूढ़ों का उद्धार किया। शबरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवों का, इन भक्तजनों का राम ने उद्धार किया। कौन बड़ी बात हुई ? परन्तु राम-नाम तो दुर्जनों को भी उबारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है, मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है। मेरे समान दुष्ट मैं ही हूँ। मुझे इस विषय में दूसरों का मत जानने की जरूरत नहीं। नाम से उद्धार होता है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थ में खपाया, उनके नाम में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसी में मनुष्य की विशेषता है। आहार-विहारादि दूसरी बातों में मनुष्य पशु समान ही है। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य पशु से नीच बन सकता है, उसी प्रकार पराक्रम से, पौरुष से, वह परमात्मा के निकट भी जा सकता है। मनुष्य में ये दोनों शक्तियाँ हैं। खूब मांस और अंडे वगैरह खाकर. दूसरे प्राणियों का भक्षण कर वह शेर के समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है, या दूसरों के लिए अपना शरीर भी फेंक सकता है। मनुष्य अपने लिए अनेक घात

करके पशु बन सकता है, अनेक के लिए अपना बलिदान कर पवित्रनामा भी बन सकता है। पशु की शक्ति मर्यादित है उसकी बुराई की भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्य के पतन की या ऊपर उठने की कोई सीमा नहीं है। वह पशु से भी नीचे गिर सकता है और इतना ऊपर चढ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है, वही चढ़ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नहीं सकता, इसलिए चढ भी नहीं सकता। मनुष्य दोनों बातों में पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगों ने अपना जीवन सारे संसार के लिए अर्पण कर दिया, उनके नाम में बहुत बडी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारे के समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं, "वसिष्ठं तर्पयामि" "भारद्वाजं तर्पयामि", अत्रि तर्पयामि", इन ऋषियों के बारे में हम क्या जानते हैं? क्या सात या आठ सौ पन्नो में उनकी जीवनी लिख सकते है? शायद एक-आध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेष रहे या न रहे केवल नाम ही तारे के समान मार्ग-दर्शक होगा, प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकड़ों वर्षों के बाद तिलक का नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित आदि बहुत-सा नही रहेगा, किन्तु इतिहास के आकाश में उनका नाम तारे के समान चमकता रहेगा।

हमें महापुरुषों के चारित्र्य का अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्र का। दरअसल महत्व चारित्र्य का है। शिवाजी महाराज ने सौ-दो सौ किले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नहीं समझना चाहिए कि उसी तरह किले बनाने से स्वराज्य प्राप्त होगा। किन्तु जिस वृत्ति से उन्होंने अपना जीवन बिताया और लड़ाई की, वह वृत्ति, वे गुण हमें चाहिएँ। जिस वृत्ति से शिवाजी ने काम किया, उस वृत्ति से हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए मैंने कहा है कि उस समय का रूप हमारे काम का नहीं है उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। कर्त्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणों का स्मरण आवश्यक है। इसलिए तो हिन्दुओं ने चरित्र का बोझ छोड़कर नाम-

स्मरण पर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियों का सारा चरित्र दिमाग में रखने की कोशिश करें तो उसी के मारे दम घुटने लगे। इसलिए केवल गुणों का स्मरण करना है, चरित्र का अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लड़कों ने 'साहसी यात्री' नाम की एक पुस्तक पढ़ी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तक में लिखा है वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तक में बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी जहाँ-तहाँ से बीस पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तक में लिखा था कि वे एक जंगल में गये। फिर क्या था? ये भी जंगल में पहुँचे। पुस्तक में लिखा था कि उन लड़कों को जंगल में एक शेर मिला। अब वे बेचारे शेर कहाँ से लायें? आखिर, उनमें जो एक बुद्धिमान् लड़का था, वह कहने लगा, "अरे भाई, हमने तो शुरू से आखीर तक गलती की। हम उन लड़कों की नकल उतारना चाहते हैं। लेकिन यहाँ तो सब कुछ उलटा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़कर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने! हम ने तो शुरू में ही गलती हुई।"

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओं का अनुकरण नहीं कर सकते, चरित्र का तो विस्मरण होना चाहिए। केवल गुणों का स्मरण पर्याप्त है। इतिहास तो भूलने के लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते है। लड़कों के ध्यान में वह सब को सब रहता भी नहीं है। इसके लिए उन पर फिजूल मार भी पड़ती है। इतिहास से हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिएँ। जो गुण हैं, उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजों के गुणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आज का श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा।

तिलक का पहला गुण कौन-सा था? तिलक जाति के ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे भी उनका गुण-स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्र के मराठा थे। लेकिन पंजाब के पंजाबी और बंगाल के बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते थे। हिन्दुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन, सब कुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस

चमत्कार में तिलक का गुण तो है ही, हमारे पूर्वजों की कमाई का भी गुण है। जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण—दोनों के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत में सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। दोनों के गुण की ओर हमें ध्यान देना चाहिए। इस अवसर पर मुझे अहल्या की कथा याद आ रही है। रामायण में मुझे अहल्या की कथा बहुत सुहानी है। राम का सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है और उसमें यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नहीं कि हमारे अन्दर राम (सत्त्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसी को पता हो या न हो। परन्तु आज राष्ट्र में राम है, क्योंकि अन्यथा यह जो थोड़ा-बहुत तेज का संचार देख पड़ता है, वह न दिखाई देता। गहराई से देखें तो आज राम का अवतार हो चुका है। यह जो राम-लीला हो रही है, इसमें कौन-सा हिस्सा लूँ, किस पात्र का अभिनय करूँ, यह मैं सोचने लगता हूँ। राम की इस लीला में मैं क्या बनूँ? लक्ष्मण, नहीं, नहीं। उनकी वह जागृति, वह भक्ति कहाँ से लाऊँ? तो क्या भरत बनूँ? नहीं, भरत की वह कर्त्तव्य-दक्षता, उत्तर-दायित्व का बोध उसकी दयालुता और त्याग कहाँ से लाऊँ? हनुमान का तो नाम भी मानो राम का हृदय ही है। तो फिर गाँठ में पुण्य नहीं है, इसलिए क्या रावण बनूँ? उँ हुँ! रावण भी नहीं बन सकता, रावण की उत्कट महत्त्वाकांक्षा मेरे पास कहाँ है? फिर मैं कौन-सा स्वाँग लूँ? किस पात्र का अभिनय करूँ? क्या कोई ऐसा पात्र नहीं है जो मैं बन सकूँ? जटायु, शबरी—? ये तो सुसेवक थे। अन्त में मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

सोचा, मैं अहल्या का अभिनय करूँ। जड़ पत्थर बनकर बैठूँ। इतने में वह अहल्या बोल उठी, "सारी रामायण में सबसे तुच्छ जड़-मूढ़ पात्र क्या मैं ही ठहरी? अरे बुद्धिमान्, क्या अहल्या का पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझमें क्या कोई योग्यता ही नहीं? अरे, राम की यात्रा में तो अयोध्या से लेकर रामेश्वर तक हजारों पत्थर थे, उनका उद्धार क्यों नहीं हुआ? मैं कोई नालायक पत्थर नहीं हूँ। मैं भी गुणी पत्थर हूँ।" अहल्या की बात मुझे जँच गई। परन्तु अहल्या के पत्थर में गुण थे तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थर की नहीं। इसी प्रकार सारी महिमा राम के चरणों की भी नहीं। अहल्या के समान पत्थर

और राम के चरणों-जैसे चरण, दोनों का संयोग चाहिए। न तो राम के चरणों से दूसरे पत्थरों का ही उद्धार हुआ न और किसी दूसरे के चरणों से अहल्या का ही।

इसे मैं अहल्या-राम-न्याय कहता हूँ। दोनों के मिलाप से काम होता है। यही न्याय तिलक के दृष्टांत पर घटित होता है। तिलक का ब्राह्मणत्व, महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिन्दुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मनाता है। इस चमत्कार में तिलक के गुण और जनता के गुण, दोनों का स्थान है। इस चमत्कार के दोनों कारण हैं। कुछ गुण तिलक का है और कुछ उन्हें मानने वाली साधारण जनता का। हम इन गुणों का जरा पृथक्करण करें।

तिलक का गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलक के फूल बम्बई में गिरे, इसलिए वहाँ उनके स्मारक-मन्दिर होंगे। उन्होंने मराठी में लिखा, इसलिए मराठी भाषा में उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलक ने जहाँ जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा में क्यों न हो, वह सब भारतवर्ष के लिए किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं महाराष्ट्र का हूँ। उनमें पृथकता की, भेद की, भावना नहीं थीं। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्ष का विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियों ने सारे भारतवर्ष का विचार किया, तिलक उनमें से एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टि के सामने आते हैं, वह थे महर्षि न्यायमूर्ति रानाडे। तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी जेब में रखा और सारे हिन्दुस्तान के लिए लड़ते रहे। "हिन्दुस्तान के हित में मेरे महाराष्ट्र का भी हित है, इसीलिए पूने का हित है, पूने में रहने वाले मेरे परिवार का हित है और परिवार में रहने वाले मेरा भी हित है। हिन्दुस्तान के हित का विचार करने से उसी में महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं सबके हित का विचार आ जाता है।" यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था, और उसी के अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान में करनी पड़ेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थान में रहकर की जाने

ग्रौर बहुग्रंगी थी तो भी उसका मूल्य ग्रौर एक स्वच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाडी भर ज्वार रास्ते में जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेब में रख सकता हूँ। दस हजार का नोट अपनी जेब में रख सकता हूँ। उस पर सरकारी मुहर भी लगी हो। आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे, पर व्यापक दृष्टि ग्रौर वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप ग्रौर मैं सब कोई सेवा कर सकें, इसीलिए परमात्मा की यह योजना है। चाहे जहाँ, चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर संकुचित दृष्टि से न कीजिए। उसमें व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आज के कार्यकर्त्ताओं में कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज संकुचित दृष्टि से काम करते हुए देख पड़ते है।

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्य में मिठास ग्रौर आनन्द है। हिन्दुस्तान के ही नहीं, बल्कि ससार के किसी भी समाज के वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहाँ सेवा कीजिए। चाहे वह एक गाँव की ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल हे। परन्तु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए। फिर देखिए, आपके कर्मों में कैसी स्फूर्ति का संचार होता हे, कैसी बिजली का संचार होता है। तिलक में यही व्यापकता थी। मै भारतीय हूँ, यह शुरू से ही उनकी वृत्ति रही। बंगाल में आन्दोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौडकर उसकी मदद की। बंगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खडा किया। स्वदेशी का डंका बजवाया। "जब बंगाल लडाई के मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगाल का दुःख है वह महाराष्ट्र का भी दुःख है।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलक में थी। इसलिए पूने के निवासी होकर भी वे हिन्दुस्तान के प्राण बन गये, सारे देश के प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्ष के लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

वाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी, वह विशाल, व्यापक और मर्यादित हो
चाहिए।

शालग्राम मर्यादित है। लेकिन उसमें मैं जिस भगवान् के दर्शन करना चाहता
हूं, वह सर्वब्रह्माण्डव्यापी, चर-अचर, जड़-चेतन सब में निवास करने वाला
है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। 'जले स्थले तथा काष्ठे विष्णु
पर्वतमूर्धनि'। उस त्रिभुवन-व्यापक विष्णु को यदि वह पुजारी शालग्राम में न
देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी। सेवा करने में भी खूबी है, रहस्य
है। अपने गाँव में रहकर भी मैं विश्वेश्वर की सेवा कर सकता हूँ। दूसरे को
न लूटते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकाराम ने अपना देहू नामक गाँव नहीं छोड़ा। रामदास दस गाँवों में
विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनों की सेवा का फल एक है, अपार
है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्म से भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा
मुट्ठी भर ही तन्दुल लेकर गये थे, लेकिन उन तन्दुलों में प्रचण्ड शक्ति थी।
सुदामा की बुद्धि व्यापक थी। बहुत बड़ा कर्म करने पर भी कुछ अभागों को
बहुत थोड़ा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे से कर्म से बहुत बड़ा फल
प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध, निष्पाप, पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्ति-
मय और प्रेममय है, वह छोटी सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान्
होता है, मूल्य बहुत बड़ा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धान्त है।
माँ का पत्र दो ही शब्दों का क्यों न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रेम
की स्याही से पवित्रता के स्वच्छ कागज पर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा
कितने ही सफेद कागज पर क्यों न लिखा हुआ हो, यदि उसके मूल में शुद्ध
बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिखा गया है वह प्रेम में ढला हुआ
न हो, तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्मा के यहाँ 'कितनी सेवा, यह पूछ नहीं है; 'कैसी सेवा' यह
पूछ है। तिलक अत्यन्त बुद्धिमान्, नाना शास्त्रों के पंडित थे, इसलिए उनकी
सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है। परन्तु तिलक ने जितनी कीमती सेवा की
उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती भी कर सकता है। तिलक की सेवा विपु-

और बहुअंगी थी तो भी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाड़ी भर ज्वार रास्ते में जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेब में रख सकता हूँ। दस हजार का नोट अपनी जेब में रख सकता हूँ। उस पर सरकारी मुहर भी लगी हो। आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे, पर व्यापक दृष्टि और वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें, इसीलिए परमात्मा की यह योजना है। चाहे जहाँ, चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर संकुचित दृष्टि से न कीजिए। उसमें व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आज के कार्यकर्त्ताओं में कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज संकुचित दृष्टि से काम करते हुए देख पड़ते हैं।

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्य में मिठास और आनन्द है। हिन्दुस्तान के ही नहीं, बल्कि संसार के किसी भी समाज के वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहाँ सेवा कीजिए। चाहे वह एक गाँव की ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है। परन्तु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए। फिर देखिए, आपके कर्मों में कैसी स्फूर्ति का संचार होता है, कैसी बिजली का संचार होता है। तिलक में यही व्यापकता थी। मैं भारतीय हूँ, यह शुरू से ही उनकी वृत्ति रही। बंगाल में आन्दोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की। बंगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खड़ा किया। स्वदेशी का डंका बजवाया। "जब बंगाल लड़ाई के मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगाल का दुःख है वह महाराष्ट्र का भी दुःख है।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलक में थी। इसलिए पूने के निवासी होकर भी वे हिन्दुस्तान के प्राण बन गये, सारे देश के प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्ष के लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

लेकिन इसका दूसरा भी कारण था। वह था जनता की विशेषता। जनता का यह गुण कार्यकर्त्ताओं में भी है, क्योंकि वे भी तो जनता के ही हैं। लेकिन उनको खुद इस बात का पता नहीं है। तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने आपको जनता के चरणों की धूल समझते थे। जनता के दोष, जनता की दुर्बलता, त्रुटियाँ सब कुछ वे अपनी ही समझते थे। वे जनता से एकरूप हो गये थे, इसलिए जनता के गुणों का स्मरण तिलक के गुणों का स्मरण ही है।

यह जो जनता का गुण है, यह हमारा कमाया हुआ नहीं है। हमारे महान् पुण्यवान्, विशाल दृष्टिवाले पूर्वजों की यह देन है। यह गुण मानो हमने अपनी माँ के दूध के साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजों ने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रान्त का, किस जाति का है, यह देखने के बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं, वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजों ने यहाँ आकर हमें देशाभिमान सिखलाया, तब कहीं हम राष्ट्रीयता से परिचित हुए। पर यह गलत है। एकराष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसी ने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजों ने। उन्हीं की कृपा से यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रऋषि ने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं वंगेषु जन्म', 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म', ऐसा उन्होंने नहीं कहा। ऋषि ने तो यही कहा है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। काशी में गंगातट पर रहने वाले को किस बात की तड़प होती है? वह इसके लिए तड़पता है कि काशी की गंगा की बहँगी या काँवर भरकर कब रामेश्वर को चढ़ाऊँ? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकान का आँगन और पिछवाड़ा हो। वास्तव में तो काशी और रामेश्वर में पन्द्रह सौ मील का फासला है, परन्तु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियों ने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आँगन पन्द्रह सौ मील का है। रामेश्वर में रहने वाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वर के समुद्र का जल काशी-विश्वेश्वर के मस्तक पर चढ़ाऊँ। वह रामेश्वर का समुद्र-जल काशी

तक ले जायगा। कावेरी और गोदावरी के जल में रहने वाला भी 'जय गंगे' 'हर गंगे, ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशी में ही नहीं, यहाँ पर भी है। जिस बर्त्तन में हम नहाने के लिए पानी लेते हैं, उसे भी गंगाजल (गंगाळय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नहीं, किन्तु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा। वह और ही कहेगा। जैसा कि तुकाराम ने कहा, 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्ये वास' (स्वदेशो भुवनत्रयम्)। उन्होंने आत्मा की मर्यादा को व्यापक बना दिया। सारे दरवाजों, सारे किलों को तोड़ कर आत्मा को प्राप्त किया। तुकाराम के समान महापुरुषों ने जो आध्यात्मिक रंग में रंगे हुए थे, अपनी आत्मा को स्वतन्त्र संचार करने दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावना से प्रेरित होकर सारे भेदभावों को पार कर जो सर्वत्र चिन्मयता के दर्शन कर सकें, वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्व के हैं, इनकी कोई सीमा नहीं है। परन्तु 'दुर्लभं भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियों ने की, वह आध्यात्मिक नहीं, राष्ट्रीय है।

वाल्मीकि ने अपनी रामायण के प्रारम्भिक श्लोकों में राम के गुणों का वर्णन किया है। राम का गुणगान करते हुए राम कैसे थे, इसका वे यों वर्णन करते हैं कि 'समुद्र इव गांभीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'—स्थिरता ऊपरवाले हिमालय-जैसी और गांभीर्य पैरों के निकट वाले समुद्र-जैसा।' देखिए कैसी विशाल उपमा है। एक साँस में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के दर्शन कराये। पाँच मील ऊँचा पर्वत और पाँच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकि के रोम-रोम में राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था, इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृत में है, तो भी सबकी आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्र में प्रिय है, उतनी ही मद्रास की तरफ केरल में भी है। श्लोक के एक ही चरण में उत्तर भारत और दक्षिण दक्षिण का समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है।

हम से कोई पूछे कि तुम कितने हो, तो हम तुरन्त बोल उठेंगे, हम पैंतीस करोड़ बहन-भाई हैं। अंग्रेज से पूछो तो वह चार करोड़ बतलायेगा। फ्रांसीसी सात करोड़ बतलायेगा। जर्मन छः करोड़ बतलायेगा। बेलजियन साठ लाख बतलायेगा। यूनानी आधा करोड़ बतलायेगा। और हम पैं-ती-स करोड़ ! ऐसा फर्क क्यों हुआ ? हमने इन पैंतीस करोड़ को एक माना। उन्होंने नहीं माना। सच पूछो तो जर्मनों का भाषा और फ्रांसीसियों की भाषा अधिक विसदृश नहीं है, जैसी मराठी और गुजराती। यूरोप की भाषाएँ लगभग एक-सी हैं। उनका धर्म भी समान है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार भी होता है। लेकिन फिर भी उन्होंने यूरोप के अलग-अलग टुकड़े कर डाले। हिन्दुस्तान के प्रान्तों ने अपने को अलग-अलग नहीं माना। यूरोप के लोगों ने ऐसा मान लिया। हिन्दुस्तान भी तो रूस को छोड़ बाकी के सारे यूरोप के बराबर एक खण्ड (महाद्वीप) ही है। लेकिन हमने भारत को एक खण्ड, यानी अनेक देशों का समुदाय न मानकर भारतवर्ष के नाम से सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

जनता के इस गुण की बदौलत तिलक सब प्रान्तों में प्रिय और पूज्य हुए। हमें इस गुण का पता नहीं था। आइए, अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय कर लें। आज तिलक का स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी, सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी, क्योंकि उनकी दृष्टि व्यापक थी। वह सारे भारतवर्ष का विचार करते थे। वह सारे हिन्दुस्तान में एकरूप हो गये थे। यही तिलक की विशेषता है। भारत की जनता भी प्रान्ताभिमान आदि का ख्याल न करती हुई गुणों को पहचानती है। यह भारतीय जनता का गुण है। इन दोनों के गुणों का यह चमत्कार है कि तिलक का सर्वत्र सब लोग स्मरण कर रहे हैं। जैसे एक आम की गुठली से पेड़, शाखा और आम पैदा होते हैं, उसी तरह एक ही भारत-माता के बाह्यतः जुदा-जुदा पुत्र दिखाई देते हैं। किन्तु हम ऊपर से कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें तो भी हम एक ही भारत-माता की संतान हैं, यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यान में रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए हम सेवकों को सेवा के लिए तैयार होना चाहिये। तिलक ने ऐसी सेवा की। आशा है, आप भी करेंगे।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा का नाम छायावादी युग के प्रमुख कवियों--प्रसाद, पन्त और निराला के साथ लिया जाता है। वस्तुतः वे भारत की महानतम समकालीन कवयित्री हैं। महादेवी के गद्य का भी विशेष मान है। उन्होंने निबन्धों, संस्मरणों और समीक्षाओं द्वारा हिन्दी गद्य को मूल्यवान सम्पत्ति दी है। उनके निबन्ध और संस्मरण अपने ढंग की बेजोड़ रचनाएँ हैं, उनमें सहज और संवेदनशील नारीत्व की ही मानो मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

लेखिका-संघ द्वारा राष्ट्रपति-भवन में आयोजित महादेवी अभिनन्दन समारोह के अवसर पर दिया गया उनका वक्तव्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने साहित्यकार की उस वंशी से तुलना की है, जिसका अपना कुछ नहीं, दूसरे की फूँक उसमें स्वर उत्पन्न करती है। साहित्यकार भी मानव हृदय के सुख-दुख को, उसकी रागात्मक वृत्ति को व्यक्त करता है। इस प्रकार एक की कथा को दूसरे तक पहुँचाता है कि वे एक रहें, मानवता अखण्ड रहे। आज के युग में हमारे सामने विज्ञान की चुनौती है--जो मनुष्य को प्रकृति पर अधिकार और अधिकार का दर्प देता है, पर हृदय को मौन करता चलता है। यदि साहित्य हृदय को वाणी देने का कार्य न करे तो विज्ञान मानवता को नाश के समीप ले जाएगा। इस दिशा में महिलाएँ अपनी सहज संवेदनशील प्रकृति और मातृ-हृदय के कारण अधिक कार्य कर सकती हैं। महिला-लेखिकाओं को अपने इस दायित्व का वरण कर अपनी लेखनी को इस देश के लिए और इस धरती के लिए समर्पित करना चाहिए।

[६]

युग-बोध, राष्ट्र-निर्माण और महिला-लेखिकाओं का दायित्व

—महादेवी वर्मा

हम सभी सरस्वती के मन्दिर के पुजारी हैं, देवता का महत्त्व ही हमारी आस्था को महत्त्व देता है। हमारा अभिनन्दन-वन्दन वस्तुतः एक ही गन्तव्य की ओर जाने वाले पथिकों का परस्पर कुशल-क्षेम पूछना है। मार्ग में चलते हुए जैसे पूछ लेते हैं--तुम्हारा सम्बन्ध तो नहीं समाप्त हो गया ? तुम थक तो नहीं गये ? तुम्हारे पैरों में बहुत कांटे तो नहीं चुभे ? इसी प्रकार हम परस्पर एक दूसरे को अभिनन्दन देते हैं, जो वस्तुतः पाथेय है, और कुछ नहीं।

जहाँ तक साहित्यकार का प्रश्न है, वह तो ऐसा कुछ नहीं देता, जो व्यक्तिगत उपलब्धि है, जो व्यक्तिगत चमत्कार है, व्यक्तिगत कुशलता है, ऐसा कुछ नहीं। वह किसी ज्ञानी के समान यह नहीं कह सकता, मैंने यह विशेष ज्ञान उपलब्ध किया है, तुमको देता हूँ। वह किसी वैज्ञानिक के समान भी नहीं कह सकता, मैंने यह तत्व खोज लिया, आविष्कार इसका किया, तुम्हें देता हूँ। इस दर्प के साथ हम कुछ दे ही नहीं सकते। हम तो जो गाते हैं आपमें से प्रत्येक कहता है--हमारी बात तुमने गा दी, हमारे आँसुओं को तुमने वाणी दे दी, हमारी हँसी को तुमने फूल बना दिया। तुम्हारा यह गीत तो हमारी बात कहता है, तुम्हारी कथा तो हमारे हृदय की कथा है, हमारे स्पन्दन की बात है। तो जहाँ सबकी कथा हम कहते हैं, वहाँ हमारा क्या रहता है ? वह वंशी क्या कहे, जिसमें दूसरे की फूंक स्वर-उत्पन्न कर देती है। दूसरे की उंगलियाँ जिसके रंग में स्वर गान बना देती हैं। जिसकी फूंक से उसका महत्त्व है, जिसकी उंगलियाँ संगीत उत्पन्न करती हैं उसका महत्त्व है। हम तो केवल मात्र वंशी हैं और उस वंशी का इतना ही उपयोग है कि आपके हृदय के सुख-दुखों को, आपकी रागात्मक वृत्तियों को इस प्रकार हम व्यक्त करें, इस प्रकार एक की कथा को दूसरे तक पहुँचाएँ कि आप एक रहे, मानवता अखण्ड रहे।

हमारी साहित्य की परम्परा बड़ी समृद्ध है, हमारी संस्कृति भी समृद्ध है और समृद्ध संस्कृति का तो साहित्य समृद्ध होना ही चाहिए, क्योंकि संस्कृति जीवन के कुछ मूल्यों का आविष्कार करती है, स्थापना करती है, साहित्य उन मूल्यों की रागात्मक अभिव्यक्ति है। दर्शन जिस सत्य को ज्ञेय बनाता है, धर्म उसे श्रेय बनाता है, साहित्य उसे प्रेय बनाता है। बिना प्रेय बनाये हुए, बिना आपके हृदय तक पहुँचाये हुए, जीवन का कोई मूल्य, किसी प्रकार का मूल्यांकन सम्भव नहीं है; वह ग्रन्थों में रहेगा, पुस्तकों में रहेगा, परन्तु आपके हृदय तक नहीं पहुँचेगा। हृदय में जब पहुँचेगा, तब काव्य के द्वारा ही पहुँचेगा और इस दृष्टि से हमारे साहित्य को, साहित्यकारों को, कवियों को अपने युग की समस्याओं का एक-न-एक समाधान खोजना ही पड़ा। कभी धर्म की संकीर्णता ने प्रतिद्वन्द्विता की, कभी केवल ज्ञान ने अपनी शुष्कता लेकर के, विचारसरणियां लेकर के, जटिलता, लेकर के प्रतिद्वन्द्विता की, कभी समाज की विषमता ने, रूढ़ियों के अन्धविश्वासों ने प्रतिद्वन्द्विता की और हर युग में कवि ने अपनी समस्याओं का कोई समाधान खोजा है और अपनी नहीं, अपने युग की समस्याओं का कोई समाधान दिया है। जिस समय हिंसा इतनी अधिक थी और यज्ञ-कर्म में इतनी पशु बलि होती थी, उस समय आदिकवि के कमण्डल के जल ने मनुष्य के उस क्रोध को, उस आक्रोश को, उस हिंसा के भाव को शान्त कर दिया। वह कवि कि जिसने ऐसे युग में लिखा और एक क्रौंच की व्यथा से विचलित होकर लिखा, विगलित होकर लिखा। उसके उपरान्त अनेक कवि आये हैं, हमारा देश विशाल रहा है और उसके अनुभव भी विशाल रहे हैं, उसे आलोक के आयाम पार करने पड़े हैं, अन्धकार के युग भी पार करने पड़े हैं। अन्धकार के युगों ने भी हमारे कवियों की दृष्टि के सामने अन्धकार नहीं रखा। अकेले तुलसीदास का इतना बड़ा निर्माण है कि आज समाज में ऐसा कुछ नहीं है कि जो तुलसीदास का दिया हुआ नहीं। हमारे देश का पूरा पुरुषार्थ राम में साकार उन्होंने कर दिया है। हमारे देश की धरती की सारी सहनशीलता, सारी क्षमा उन्होंने सीता में साकार कर दी है। निरन्तर तब से कवि आते रहे हैं, इस धरती की बात कहते रहे हैं और यह धरती हमारी ऐसी है कि जिसने विश्व को सहोदर मान करके, सब बात कही है, अकेले के लिए नहीं कहा है। एकाकी वृत्ति यहां

नहीं है। हमारे धर्म में, हमारे दर्शन में, हमारे साहित्य में, मनुष्यता अखण्ड है, एक है और उस एकता को रखने के लिए मनुष्य की संवेदना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे धूप में पृथ्वी तप जाती है, ग्रीष्म में पृथ्वी में दरार पड जाती है, परन्तु जब घटा उमडती है, जब वर्षा आ जाती है, तब सारी दरारे भर जाती हैं, पृथ्वी एक हो जाती है, सजल हो जाती है, श्यामल हो जाती है। और वह मेघ जो बरस जाता है, अनन्त-अनन्त रूपो मे, रगो मे, विविधता में व्यक्त होता है। तब उसका नाम नही रहता। आप यह नहीं कहते कि यह मेघ है। धरती में जितने अकुर है, जितने तृण हैं, जितने वृक्ष है, चाहे वट वृक्ष है, चाहे ललित रंग है, आप मेघ या घटा इसमे नहीं पाते है। लेकिन वह बदल कर वही हो गया है तो साहित्य भी हमारा यही करता रहा है।

आज के युग में फिर हमारे सामने ऐसी ही चुनौती है, विज्ञान की चुनौती—जो मनुष्य को शक्ति देता है, अधिकार देता है, अधिकार का दर्प भी देता है और हृदय को धीरे-धीरे मौन करता चलता है, हृदय पर स्तर पर स्तर रखता जाता है। यदि साहित्य इस दिशा में फिर मनुष्य के हृदय को वाणी देने का कार्य न करे, मनुष्य को एक रखने का कार्य न करे, तो निश्चय रूप मे विज्ञान मनुष्य को खण्ड-खण्ड में बाँट देगा और नष्ट होने के अतिरिक्त मानवता के पास और कोई गन्तव्य नहीं रहेगा, कोई निष्कर्ष, कोई परिणाम नहीं रहेगा। तो आज के कवि के सामने अपने युग की ऐसी समस्याएँ है कि वह शान्त होकर अपने सम्बन्ध मे बहुत सोच नहीं सकता। उसे मनुष्य के हृदय में जो एक सद्भावना है, स्नेह है, जो विश्व मानवता है, उसे जगाना ही पड़ेगा और यदि जगा सके तो बडा काम करेगा।

मै समझती हूँ इस दिशा में महिलाएँ अधिक कार्य कर सकती हैं, इसलिए कि वे माता है, उनका हृदय सहज ही संवेदनशील है और वे इस व्यथा को खण्ड-खण्ड—जीवन के खण्ड-खण्ड होने की व्यथा को वे अधिक निकट से अनुभव कर सकती है। जिस युग मे मैंने आरम्भ किया था, तब तो हम पराधीन थे और रूढ़ियाँ इस सीमा तक थी कि आज मुझे सोचकर आश्चर्य होता है कि जिस पण्डित से मैंने कहा कि मै वेद पढना चाहती हूँ, वही मूर्च्छित हो जाता था।

पढ़ाने की बात तो बहुत दूर है मुश्किल हो जाते थे। एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय में एक पण्डित से दूसरे पण्डित के पास जाकर कहती--मुझ में पात्रता है, आप गुरु मेरे हो जाइए किन्तु कोई गुरु बनना पसन्द न करता था। सोचते थे कि स्त्री को वेद किस प्रकार पढ़ायेंगे ? कैसे पढ़ेगी यह ? ऐसी अनधिकारी वर्ग यह कैसे कहती है ? लेकिन आप ऐसे युग में हैं कि आपका मार्ग कहीं अवरुद्ध नहीं, आप चाहें तो सब कुछ कर सकती हैं। हमें संघर्ष करना पड़ा था, लेकिन उस संघर्ष ने हमें बल दिया। नदी समतल पर उस वेग से नहीं चलती, जितनी शिलाओं पर चलती है। शिलाएं उसका मार्ग नहीं रोकती, जब रोकता है तब समतल ही रोकता है। जब उसे सुखा देना है तब सिकता का विस्तार ही सुखा (?) देता है। आपके मार्ग में बाधाएं नहीं हैं, जो मेरे सामने थीं। इसलिए अब आपको अपनी शक्ति की परीक्षा करनी चाहिए और प्रयत्न करना चाहिए। हर नदी का गन्तव्य समुद्र-तट है, समुद्र हो जाना है, वह तटों को वहाँ तक जाने के लिए बनाती है, तटों को लेकर समुद्र में प्रवेश कोई नदी नहीं करती है। आपकी यात्रा शुभ हो और आपमें से प्रत्येक यह समझे कि आपकी लेखनी इस देश के लिए समर्पित है, इस धरती के लिए समर्पित है, वह आपके संकल्पों से मन्त्रपूत हो, आपकी संवेदना से अभिषिक्त हो, आप सबकी यात्रा शुभ हो।

नहीं है। हमारे धर्म में, हमारे दर्शन में, हमारे साहित्य में, मनुष्यता अखण्ड है, एक है और उस एकता को रखने के लिए मनुष्य की संवेदना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे धूप में पृथ्वी तप जाती है, ग्रीष्म में पृथ्वी में दरार पड़ जाती है, परन्तु जब घटा उमड़ती है, जब वर्षा आ जाती है, तब सारी दरारें भर जाती हैं, पृथ्वी एक हो जाती है, सजल हो जाती है, श्यामल हो जाती है। और वह मेघ जो बरस जाता है, अनन्त-अनन्त रूपों में, रंगों में, विविधता में व्यक्त होता है। तब उसका नाम नहीं रहता। आप यह नहीं कहते कि यह मेघ है। धरती में जितने अंकुर हैं, जितने तृण हैं, जितने वृक्ष हैं, चाहे वट वृक्ष है, चाहे ललित रंग हैं, आप मेघ या घटा इसमें नहीं पाते हैं। लेकिन वह बदल कर वही हो गया है तो साहित्य भी हमारा यही करता रहा है।

आज के युग में फिर हमारे सामने ऐसी ही चुनौती है, विज्ञान की चुनौती--जो मनुष्य को शक्ति देता है, अधिकार देता है, अधिकार का दर्प भी देता है और हृदय को धीरे-धीरे मौन करता चलता है, हृदय पर स्तर पर स्तर रखता जाता है। यदि साहित्य इस दिशा में फिर मनुष्य के हृदय को वाणी देने का कार्य न करे, मनुष्य को एक रखने का कार्य न करे, तो निश्चय रूप से विज्ञान मनुष्य को खण्ड-खण्ड में बांट देगा और नष्ट होने के अतिरिक्त मानवता के पास और कोई गन्तव्य नहीं रहेगा, कोई निष्कर्ष, कोई परिणाम नहीं रहेगा। तो आज के कवि के सामने अपने युग की ऐसी समस्याएँ हैं कि वह शान्त होकर अपने सम्बन्ध में बहुत सोच नहीं सकता। उसे मनुष्य के हृदय में जो एक सद्भावना है, स्नेह है, जो विश्व मानवता है, उसे जगाना ही पड़ेगा और यदि वह जगा सके तो बड़ा काम करेगा।

मैं समझती हूँ इस दिशा में महिलाएँ अधिक कार्य कर सकती हैं, इसलिए कि वे माता हैं, उनका हृदय सहज ही संवेदनशील है और वे इस व्यथा को खण्ड-खण्ड—जीवन के खण्ड-खण्ड होने की व्यथा को वे अधिक निकट से अनुभव कर सकती हैं। जिस युग में मैंने आरम्भ किया था, तब तो हम पराधीन थे और रूढ़ियाँ इस सीमा तक थीं कि आज मुझे सोचकर आश्चर्य होता है कि जिस पण्डित से मैंने कहा कि मैं वेद पढ़ना चाहती हूँ, वही मूर्च्छित हो जाता था।

पढ़ाने की बात तो बहुत दूर है मूच्छित हो हो जाते थे। एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय में, एक पण्डित से दूसरे पण्डित के पास जाकर कहती--मुझ में पात्रता है, आप गुरु मेरे हो जाइए किन्तु कोई गुरु बनना पसन्द न करता था। सोचते थे कि स्त्री को वेद किस प्रकार पढ़ायेंगे ? कैसे पढ़ेगी यह ? ऐसी अनधिकारी बात यह कैसे कहती है ? लेकिन आप ऐसे युग में हैं कि आपका मार्ग कहीं अवरुद्ध नहीं, आप चाहें तो सब कुछ कर सकती हैं। हमें संघर्ष करना पड़ा था, लेकिन उस संघर्ष ने हमें बल दिया। नदी समतल पर उस वेग से नहीं चलती, जितनी शिलाओं पर चलती है। शिलाएं उसका मार्ग नहीं रोकतीं, जब रोकता है तब समतल ही रोकता है। जब उसे सुखा देना है तब सिकता का विस्तार ही सुखा (?) देता है। आपके मार्ग में बाधाएं नहीं हैं, जो मेरे सामने थीं। इसलिए अब आपको अपनी शक्ति की परीक्षा करनी चाहिए और प्रयत्न करना चाहिए। हर नदी का गन्तव्य समुद्र-तट है, समुद्र हो जाना है, वह तटों को वहाँ तक जाने के लिए बनाती है, तटों को लेकर समुद्र में प्रवेश कोई नदी नहीं करती है। आपकी यात्रा शुभ हो और आपमें से प्रत्येक यह समझे कि आपकी लेखनी इस देश के लिए समर्पित है, इस धरती के लिए समर्पित है, वह आपके संकल्पों से मन्त्रपूत हो, आपकी संवेदना से अभिषिक्त हो, आप सबकी यात्रा शुभ हो।

डा० जगदीश गुप्त

डॉ० जगदीश गुप्त का नये कवियों में प्रमुख स्थान है। 'नयी कविता' नाम की नयी कविता की एक प्रतिनिधि पत्रिका का वे सम्पादन भी करते हैं। वे अच्छे चित्रकार भी हैं। अतः प्रस्तुत लेख में एक विज्ञ कलाकार ने एशिया की कला मे परिलक्षित होने वाली वैचारिक एकरूपता पर प्रकाश डाला है। कला मानव की सांस्कृतिक चेतना को, धर्म और दर्शन की अपेक्षा अधिक समग्रता के साथ व्यक्त करती है। प्राच्य कला में बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक रूप की संगति पर विशेष बल दिया गया है। प्राचीन और प्राचीन से भी अधिक मध्यकालीन कला में भारत, चीन, जापान, इंडोचीन, इंडोनेशिया, मलाया, जावा आदि के बीच जो एकता के दृढ़ सूत्र मिलते है, वे आश्चर्यजनक हैं। बौद्ध-धर्म की तरह बौद्ध-कला ने भी एशियाई देशों में अपनी अमिट छाप छोड़ी है। भारतीय और चीनी तथा अन्य एशियाई चित्र-कला के सिद्धान्तों में पारस्परिक एकता के प्रमाण मिलते हैं और भौतिक दृष्टि से अनुप्रेरित पाश्चात्य कला से उनका प्रकृतिगत भेद दिखाई देता है। वर्तमान युग में सांस्कृतिक आदान-प्रदान की अधिक व्यापक प्रवृत्ति के कारण अवश्य यह भेद परिलक्षित नहीं होता, किन्तु प्राचीन कला में वह स्पष्ट है।

[७]

कला में एशिया की वैचारिक एकरूपता

—डा० जगदीश गुप्त

भावनापरक एवं संकल्पात्मक होने के कारण कला मानव की सांस्कृतिक चेतना को, धर्म और दर्शन की अपेक्षा अधिक समग्रता के साथ व्यक्त करती है। यही कारण है कि एशिया की आन्तरिक एकता का जितना प्रत्यक्ष प्रमाण कला से उपलब्ध होता है उतना किसी अन्य साधन से नहीं। यह अवश्य है कि वैचारिक एकता को ही कला अभिव्यक्त नहीं करती वरन् वह उससे गंभीरतर आत्मिक एकता को भी व्यक्त करती है।

एशिया की कला को 'प्राच्य कला' की संज्ञा दी जाती है और उसकी विशेषताओं को लक्षित करने के लिए कला के मर्मज्ञ प्रायः उसकी तुलना पाश्चात्य कला से किया करते हैं। प्रारम्भ में यह तुलना विदेशियों द्वारा जापान, चीन, भारत, परशिया आदि एशिया के प्रमुख देशों की कलाकृतियों को 'अद्भुत' समझते हुए की गई और उसमें यूरोपीय कला को एशिया की कला से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का भाव भी निहित था। परन्तु उत्तरोत्तर उनका दृष्टिकोण एशिया की श्रेष्ठतम कलाकृतियों के व्यापक सम्पर्क में आने पर, अधिक संतुलित एवं यथार्थोन्मुख होता गया और उन्होंने अनुभव किया कि प्राच्य कला अधिक सूक्ष्म, सशक्त और गंभीर सैद्धान्तिक स्तर पर प्रतिष्ठित है। उसमें वाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक रूप की संगति पर विशेष बल दिया जाता है। मानव व्यक्तित्व के आध्यात्मिक पक्ष पर एशियाई धर्म और दर्शन ने आस्था और चिन्तन के धरातल पर जो संस्कार उत्पन्न किये उनका समष्टिगत प्रभाव कला पर पड़ा और इसीलिए भौतिक दृष्टि से अनुप्रेरित पाश्चात्य कला से उसका प्रकृतिगत भेद दिखाई देता है। एशिया और यूरोप की आधुनिक कला में यह भेद उतना परिलक्षित नहीं होता जितना कि प्राचीन कला में, क्योंकि वर्तमान युग में

देश-देश के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान जितना सुगम हो गया है उतना विगत युग में कभी था ही नहीं। पूर्व और पश्चिम के विभेद का अतिक्रमण करके कला के क्षेत्र में भी विश्वजनीन एकता और अखण्डता का अनुभव किया जाने लगा है। फलतः एशिया के प्रत्येक जागरूक देश के कलाकार नवीन और प्राचीन के बीच संघर्ष को विभिन्न स्थितियों को पार करते हुए संतुलन की नयी स्थिति तक पहुँचने में व्यस्त है। प्राचीन और प्राचीन से भी अधिक मध्यकालीन कला में भारत, चीन, जापान, इण्डोचीन, इण्डोनेशिया, मलाया, जावा, आदि के बीच जो एकता के दृढ़ सूत्र मिलते हैं वे आश्चर्यजनक हैं। भारत की स्थिति इसमें विशेष महत्व रखती है क्योंकि वह उस बौद्ध धर्म का उद्‌गम-स्थान है जिसने एक समय एशिया के देशों को चतुर्दिक् प्रभावित किया तथा कला को आस्था का समान आधार अर्पित किया। भारत का महत्व इसलिए भी विशेष है कि वह यूरोप के समीपवर्ती पूर्वी-देशों तथा सुदूर-पूर्व के देशों के बीच एक भौगोलिक शृंखला स्थापित करके एशिया की संस्कृति को अखण्डता प्रदान करता है। बौद्ध धर्म की तरह बौद्ध कला भी एशियाई देशों में अपनी अमिट छाप छोड़ गई है जो आज भी अपनी सूक्ष्मता, भावमयता और प्रौढ़ता के कारण प्रेरक प्रतीत होती है।

स्तूपों, विहारों, चैत्यों और आरामों को सौन्दर्यमयी उत्कृष्ट कलाकृतियों से अलंकृत करने की भावना बौद्ध कला में इतनी गंभीर रही है कि बौद्ध-धर्म की विरक्ति-मूलक साधना भी उसे कुंठित नहीं कर सकी। हुआ यह कि धार्मिक संस्कारों के प्रभाव से कला स्वयं साधना की कोटि में पहुँच गई और उसमें पवित्रता की आध्यत्मिक भावना व्याप्त हो गई। यदि ऐसा न हुआ होता तो शताब्दियों में विनिर्मित होने वाले अजन्ता के भित्तिचित्रों की सृष्टि संभव न होती। भित्तिचित्रों की जिस शैली और परम्परा का परिचय, बौद्ध जातकों पर आधारित, अजन्ता के चित्रों से मिलता है, वह सीलोन, परशिया, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन और जापान तक परिव्याप्त थी, यह पुरातत्व के द्वारा प्रमाणित हो चुका है। अजन्ता, बाघ और कन्हेरी की गुफाओं की तरह, अफगानिस्तान, चीनी तुर्किस्तान, और चीन में भी अनेक गुफाओं की खोज हुई है जिनमें मूर्तिकला, वास्तुकला तथा चित्रकला की त्रिवेणी स्पष्ट भारतीय प्रभाव के साथ

उपलब्ध होती है। अजन्ता के साथ वामियान, किजिल और तुगहवाग आदि के
ग्राम भित्तिचित्रों की परम्परा में परिचित व्यक्ति का स्वय ही स्मरण हो आते
हैं। चित्रों की तरह स्तूपों के निर्माण की परम्परा भी वृहत्तर भारत तथा एशिया
के अन्य निकटवर्ती देशों तक व्याप्त मिलती है। यह अवश्य है कि सांची, भर-
हुत, और सारनाथ की स्तूप-कल्पना रूपकार की दृष्टि से नेपाल, तिब्बत, सीलोन,
वर्मा और जावा में परिवर्तित होती गयी। छत्रों की सख्या बढ गयी, अर्ध गोला-
कार स्तूप उन्नत और प्रासादाकार हो गया। बोरोबुदुर का स्तूप तो इतना
भिन्न हो गया कि यह प्रमाणित करना ही कठिन हो जाता है कि मूलत. स्तूप
की कल्पना एक स्रोत से सम्बद्ध है। पैगोडा की रूप-कल्पना भारतीय बौद्ध-मन्दिर
की कल्पना से पृथक् प्रतीत होती है पर कला-विशेषज्ञों के अनुसार वह मूलत.
असम्बद्ध नहीं है। मूर्तिकला में बुद्ध की महाकाय प्रतिमाओं का निर्माण भी
एशिया के समस्त प्रमुख बौद्ध देशों में हुआ जो उपास्य के महत्व एव गौरव की
प्रतिष्ठा की एक जैसी भावना का द्योतक है। बुद्ध-मूर्ति की आदि कल्पना भारत-
वर्ष में हुई और उसमे जिस आध्यात्मिक शान्ति को अभिव्यक्ति विभिन्न मुद्राओं
में, भारतीय कलाकारों ने की वह सभी बौद्ध देशों में अनुकरणीय एव आदर्श
मानी गई। वस्त्र-विन्यास और मुखाकृति तथा अन्य अवयवों का सगठन
अवश्य कभी ग्रीक, कभी मगोल और कभी अन्यान्य प्रभावों से परिवर्तित होता
रहा। बुद्ध-मूर्ति की कल्पना की आन्तरिक समानता एशिया की कला की अन्त-
र्वर्तिनी एकता का ज्वलन्त और अकाट्य प्रमाण है। भारतवर्ष में हिन्दू कला
और बौद्ध कला स्वभावतः भिन्न नहीं हैं। वृहत्तर भारत में भी उनकी अभिन्नता
विनष्ट नहीं हुई—यह भी तथ्य कलागत एकता के विचार को परिपुष्ट करता है।
किसी अन्य देश की कला का आदर्श देश-विशेष के कलाकारों द्वारा तब तक
आत्मसात् और मूर्त नहीं किया जा सकता जब तक दोनों में अन्य प्रकार की
एकता न हो। ऐसी एकता वैचारिक और मानसिक ही हो सकती है। एक विद्वान
का तो यहाँ तक कहना है कि जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया,, स्याम तथा बर्मा की
कला भारतीय कला के इतिहास-ग्रन्थ के खोये हुए पृष्ठों-जैसी है। यह बात
भारत को गौरवान्वित करने की दृष्टि से ही नहीं कही गयी है, इसमें वस्तुगत
यथार्थ भी है। जो सक्षम विचारक हैं वे इस प्रश्न के मूल में भी बैठने का प्रयत्न

करते हैं कि यदि वैचारिक और मानसिक एकता को स्वीकार किया जाय तो क्यों सम्पूर्ण एशिया में बौद्ध-धर्म व्याप्त हो गया और इतने समय तक उसके आध्यात्मिक संस्कार जीवित रहे ? इसका उत्तर एशिया की कला देती है जो इन स्तरों से गहरे उतर कर आत्मिक एकता के स्तर तक जाती है जैसा आरम्भ में निर्देश किया जा चुका है ।

भारतीय चित्रकला और चीनी चित्रकला के सिद्धांतों की तुलना करने पर पारस्परिक एकता का एक और प्रमाण उपलब्ध होता है । दोनों देशों के शिल्पाचार्यों ने षडंगों की कल्पना की है और उसे शास्त्रीय-विधान के रूप में प्रतिष्ठित किया है । रूप-विन्यास के साथ साथ संयोजक और वर्ण-विन्यास के प्रति दोनों में समान सजगता लक्षित होती है । चीनी चित्रकार अपने तूलिका-कौशल के द्वारा जीवन को उसकी अखण्ड गतिशीलता में सूक्ष्म आत्मिक सामंजस्य स्थापित करते हुए एक भावमयी सौन्दर्य चेतना के साथ चित्रित करता है जबकि भारतीय चित्रकार जीवन की स्वाभाविक भाव-मुद्राओं को ग्रहण करते हुए भी पौराणिक संदर्भ को कठिनाई से छोड़ पाता है । चीनी चित्रकार की तरह सर्वथा मुक्त होकर तल्लीनता के साथ वह प्रकृति का आलेखन नहीं करता । सिद्धांततः वह भी समस्त दृश्य-जगत् में एक ही आध्यात्मिक सत्ता को परिव्याप्त मानता है । परन्तु प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का समान मनोयोग से निरीक्षण करके उसके रूप को चीनी चित्रकार की भाँति वह अंकित नहीं करता । वह केवल वस्तु के स्वभाव को ग्रहण करके शेष को अपनी कल्पना से भर देने की छूट लेता है और भावनाओं को प्रायः लीला भाव के रूप में ग्रहण करता है । उसका यह लीला भाव गज, सिंह और मकर आदि की आकृतियों को चित्रित करके भी सौम्य ही बना रहता है । भावना को उदात्त की ओर अनुप्रेरित करना उसकी एक मुख्य विशेषता है । चीनी चित्रकार जिस परिपक्व भाव से व्याल (ड्रैगन) को चित्रित करता है वह एशिया के किसी देश की कला में उपलब्ध नहीं होता । भारतीय मकर-चित्रण उसकी छाया-मात्र है । ईरानी-फारसी पद्धति का शार्दूल-चित्रण भी उतना शक्तिपूर्ण नहीं लगता । पाश्चात्य कला-पारखियों की दृष्टि से एशियाई कला की जो विशेषता सबसे महत्वपूर्ण है वह यह कि इसमें प्रकृति का यथातथ्यांकन नहीं होता जैसा आधुनिक कला के प्रेरक सेजांसे

पूर्व रूबेल, रेम्ब्रां कानस्टेबल, टर्न आदि करते रहे। प्रभाववादी फ्रेंच कलाकारों में भी प्रकृति को तद्वत् अंकित करने का ही आग्रह प्रधान था, परन्तु चीनी और जापानी चित्रकारो ने जिस मूल-वास्तव और आन्तरिक सूक्ष्म अनुभूति की सगति के साथ प्रकृति को चित्रित किया हे वह यूरोप के किसी देश की कला मे अप्राप्य है। विदेशी दृष्टि इससे आश्चर्यचकित होती है क्योकि परशिया से लेकर जापान तक सारे एशियाई देशों के प्रकृति-चित्रण मे छाया और परिप्रेक्षण (पर्सपेक्टिव) का अभाव है, क्यो जल में प्रतिबिम्ब तक प्रदर्शित नहीं किया जाता। एशियाई कला के प्रतीकात्मक और स्वभाव-प्रधान चित्रण का रहस्य वह कठिनाई से ग्रहण कर पाता है। इसी प्रकार सारी एशियाई कला उसे किसी-न-किसी रूप में अलंकृति-प्रधान दिखाई देती है। वास्तव मे अलकरण उस लयात्मकता को व्यक्त करता है जो एशिया की कला की एक प्रमुख विशेषता हे। समस्त एशियाई देशो का चित्राकन 'रेखा' को रूप का अनिवार्य वाहक मान कर चलता है। भारतीय शास्त्रकारो ने रेखांकन को कलाकार की कुशलता का श्रेष्ठ-तम प्रतिमान माना हे। 'रेखा शंसन्त्याचार्याः 'किसी काल मे यूरोपीय कला मे रेखा को इतनी महत्ता प्राप्त नहीं हुई। वर्ण-विन्यास और चित्र में रिक्त स्थान की व्यवस्था का भी एशिया के कलाकार में अपना पृथक् वोध रहा है।

फारस और ईरान प्रारम्भ में आर्य जाति के संस्कारो से युक्त थे जो प्रतिमापूजक नहीं थे। बाद में सेमेटिक जातियो के संस्कार उनमें आये जो 'बुतशिकनी' को पवित्र धार्मिक कर्तव्य मानते थे। परिणाम यह हुआ कि वहाँ मानव आकृतियो के चित्रण के स्थान पर अलंकरण और ज्यामितिक रूप रचना का, कला में महत्व बढ़ता गया। सेमेटिक सस्कार भारत में भी आये परन्तु यहाँ की बुतपरस्ती' 'बुतशिकनी' के द्वारा पराजित नहीं हुई वरन् उससे फारसी कला को नई दिशा प्रदान की। फारसी कला मे व्यक्तिचित्र का प्रायः अभाव हे पर भारत में मुगल शैली की एक प्रधान विशेषता ही व्यक्ति-चित्रण है। शिल्प-कौशल का विश्वविख्यात सीमाचिन्ह ताजमहल ईरानी और भारतीय वास्तुकला का अद्वितीय सम्मिश्रण है। राजपूत और मुगल कला शैलियो की अलंकृत सूक्ष्म रूप-रचना की समानता इस बात की द्योतक है कि अन्ततः सेमेटिक संस्कार भी एशिया की कलागत एकता को विच्छिन्न नहीं कर सके।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

डा० देवराज के शब्दों में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के 'सांस्कृतिक इतिहासकार' हैं। सांस्कृतिक भाव-धारा के संदर्भ में हिन्दी साहित्य के इतिहास की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले द्विवेदीजी हिन्दी के यशस्वी आचार्य हैं। भारत के प्राचीन साहित्य के गहन अध्ययन की छाप ने इनके कृतित्व को गौरव प्रदान किया है। डा० द्विवेदी साहित्य को मानवतावादी दृष्टि से देखने का आग्रह करते हैं तथा साहित्य को केवल सौन्दर्यानुभूति की वस्तु नहीं मानते, वे उसे मानव के आत्यन्तिक हित का साधन भी स्वीकार करते हैं। निबन्धकार के रूप में भी द्विवेदीजी का महत्व अप्रतिम है। निबन्ध चाहे जिस विषय पर हों, उनमें द्विवेदीजी के पाण्डित्य और अध्ययन की छाप जरूर होगी, पर साथ ही गजब की सरलता भी होगी। कभी बहुत नाचीज विषयों को लेकर वे लिखते हैं और कभी महत्वपूर्ण विषयों को लेकर, पर अक्सर एक हल्के-से आरम्भ के साथ बड़ी सहजता से बड़ी-बड़ी बातें कह जाते हैं। जब द्विवेदीजी की भावना बाँध तोड़ कर बहती है तो आलंकारिक वैभव देखते ही बनता है, उपमा-उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लग जाती है। पर फिर भी चमत्कार का भान तक नहीं, एक अपूर्व सहजता रहती है। उन पर संस्कृत कवियों का बहुत प्रभाव है, किन्तु प्राचीन संस्कार ग्रहण करके भी उनकी शैली आधुनिक है। हम विदेशी प्रभावों की प्रशंसा तो कर पाते हैं पर यह हीनताजन्य मानसिक दरिद्रता ही है कि अपने पूर्वपुरुषों से प्रभावित होना नहीं चाहते। द्विवेदीजी इस प्रकार के हीन-संस्कार से मुक्त हैं और साथ ही पुराणपंथिता से भी बिल्कुल मुक्त हैं। उनकी लेखन-शैली विवेचन-प्रधान प्रसादात्मक और अनुरंजक है।

संगृहीत निबन्ध में उन्होंने प्राचीन भारत के एक महत्वपूर्ण पर्व 'मदनोत्सव' का वर्णन किया है। संस्कृत-काव्य-नाटक आदि में उपलब्ध ब्यौरों से उन्होंने उस पर्व पर होने वाले आमोद-प्रमोद का जीवन्त चित्रण किया है। मदनोत्सव वसन्त ऋतु का उत्सव था। इस उत्सव में मदन-देवता की पूजा की जाती थी। परब्रह्म की उस मानसिक इच्छा का, जो संसार की सृष्टि में प्रवृत्त होती है, मूर्तरूप ही 'काम' है। इस लेख में वर्णित है कि किस प्रकार उत्सव मनाया जाता था, देव-पूजन होता था और क्या अनुष्ठान किये जाते थे। यह निबन्ध हमारे प्राचीन सांस्कृतिक जीवन के एक पक्ष का एक चित्र प्रस्तुत करता है।

[८] प्राचीन भारत में मदनोत्सव

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

संस्कृति के किसी भी काव्य, नाटक, कथा और आख्यायिका को पढ़िये, वसन्त ऋतु का उत्सव उसमें किसी-न-किसी वहाने अवश्य आ जायेगा। कालिदास तो वसन्तोत्सव का वहाना ढूँढने रहते से लगते हैं। मेघदूत वर्षा ऋतु का काव्य है, पर यक्षप्रिया के उद्यान के वर्णन के प्रसंग में प्रिया के नूपुरयुक्त वामचरणों के मृदुल आघात से कंधे पर से फूट उठने वाली अशोक और मुखमदिरा से सिंच कर खिल उठने की लालायित वकुल की चर्चा उसमें आ ही गयी है। वस्तुतः अशोक और वकुल को इस प्रकार खिला देने का उत्सव वसंत में ही मनाया जाता था। वसन्त का समय प्राचीन भारत में उत्सवों का काल हुआ करता था। कामसूत्र में इस समय के कई उत्सवों की चर्चा आती है। इनमें दो वहुत प्रसिद्ध हैं मदनोत्सव और सुवसन्तक। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने दोनों को एक मान लिया है, पर अन्य ग्रन्थों से स्पष्ट है कि ये दोनों उत्सव अलग-अलग दिनों को मनाये जाते थे। भोजदेव के अनुसार सुवसतक वसन्तावतार का उत्सव है-आजकल का वसन्तपंचमी का उत्सव। मदनोत्सव होली के रूप में आज भी पूरे उत्साह के साथ मनाया जाता है।

मदनोत्सव के उल्लासमय रूप

पुराने ग्रन्थों से पता चलता है कि फागुन से आरम्भ करके चैत के महीने तक वसन्तोत्सव कई प्रकार से मनाया जाता था। इसके दो रूप वहुत प्रसिद्ध थे—एक सार्वजनिक धूमधाम का और दूसरा कामदेव के पूजन का। सम्राट् हर्षदेव की रत्नावली नाटिका में इन दोनों प्रकार के उत्सवों का वड़ा ही सरस और जीवन्त वर्णन मिलता है। उस दिन सारा नगर पुरवासियों की करतलध्वनि, मधुर संगीत और मृदंग के मादक घोष से मुखरित हो उठता था। नागर जन मदमत्त हो उठते थे। राजा अपने ऊँचे प्रासाद की सवसे ऊँची चन्द्रशाला में

वैठ कर नगरवासियो के आमोद-प्रमोद का रस लेते थे। नागरिकाएँ मधुमास से मत्त होकर सामने पड़ जाने वाले किसी भी पुरुष को पिचकारी (शृंगक) के रंगीन जल से सरावोर कर देती थीं। राजमार्गों के चौराहों पर मर्दल नाम के ढोल और चर्चरी गीत की ध्वनियां मुखरित हो उठती थीं। सुगंधित पिष्टातक (अबीर) से दिशाए रंगीन हो उठती थीं। केशर मिश्रित पिष्टातक से राजपथ और प्रासाद इस प्रकार आच्छादित हो उठते थे कि प्रातःकालीन उषा की छाया का भ्रम होने लगता था। नागरजनों के शरीर पर शोभमान हेमालंकार और सिर पर धारण किये हुए अशोक के लाल-लाल फूल इस सुनहरी आभा को और भी बढ़ा देते थे। ऐसा जान पड़ता था कि कुबेर को भी अपनी समृद्धि से जीतने का दावा करने वाली सारी नगरी सुनहरी रंग में डुबो दी गयी है--

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुंकुमगौरैः
हेमलंकारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैंकिरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्यस्वभवनविजिताशेषवित्तेशकोषा
कौशाम्बी शातकुम्भद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति।

रत्नावलि--१.११

उस दिन बड़े घरों के सामने आंगन में फव्वारे पूरे वेग से छूटते रहते थे और नागरिकाओं की, अपनी पिचकारी में पानी भरने की उल्लास-लालसा को पूरा करने में सहायक हुआ करते थे। इस स्थान पर पौर-युवतियों के बराबर आते रहने से उनके सीमन्त से सिंदूर और कपोलों से अबीर झरते रहते थे और सारा फर्श लाल कीचड़ से भर जाता था, फर्श सिंदूरमय हो उठता था—

धारायंत्रविमुक्तसंततपयःपूरप्लुते सर्वतः
सद्यःसान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीड़े क्षणं प्रांगणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिंदूररागारुणैः
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्॥

मगर इस उत्सव का सर्वाधिक हुड़दंगी रूप वार-वनिताओं के मुहल्ले के वर्णन में मिलता है। निस्संदेह यह होली का पुराना रूप है।

इसके साथ ही इस उत्सव का एक शान्त स्निग्ध चित्र भी मिलता है। भवभूति के मालती-माधव नामक प्रकरण में एक मदनोत्सव का चित्र है। इसमें पता चलता है कि मदनोद्यान—जो विशेष रूप से इस उत्सव के लिए ही बनाया जाता था—इसका मुख्य केन्द्र हुआ करता था। इसमें कामदेव का मंदिर हुआ करता था। इसी उद्यान में नगर के स्त्री-पुरुष एकत्र होकर भगवान कन्दर्प की पूजा करते थे। यहां पर लोग अपनी अपनी इच्छा के अनुसार फूल चुनते, माला बनाते, अबीर-कुंकुम से क्रीड़ा करते और नृत्य-गीत आदि से मनोविनोद किया करते थे। इस मन्दिर में प्रतिष्ठित परिवारों की कन्याएं भी पूजनार्थ आया करती थीं और मदन देवता की पूजा करके मनोवांछित वर की प्रार्थना करती थीं। जनता की भीड़ प्रातःकाल से ही शुरू हो जाती थी और संध्याकाल तक अबाध गति से आती रहती थी। मालती-माधव से पता चलता है कि अमात्य भूरिवसु की कन्या मालती भी इस उद्यान में कन्दर्प पूजन के लिए आयी थी। इस पूजन में धार्मिक बुद्धि की प्रधानता होती थी और शोरगुल और हुड़दंग का नाम भी नहीं था। यह मंदिर नगर के बाहर हुआ करता था।

कामदेव की पूजा

मदन देवता की एक पूजा चैत्र के महीने में होती थी। अशोक वृक्ष के नीचे मिट्टी का कलश स्थापित किया जाता था। सफेद चावल भरे जाते थे। फलों और ईख का रस पूजा में नैवेद्य थे। कलश को सफेद वस्त्र से ढका जाता था। चंदन भी उस पर सफेद ही छिड़का जाता था। कलश के ऊपर ताम्र पत्र पर केले के पत्ते रखे जाते थे, जिस पर कामदेव और रति की प्रतिमा उतारी जाती थी और नाना भाँति के गंध, धूप, नृत्य, गीत आदि से देवताओं को तृप्त किया जाता था। यह मत्स्यपुराण की बात है। इसके दूसरे दिन चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को भी पूजा होती थी। लोग व्रत रखते थे।

शिल्परत्न, विष्णुधर्मोत्तर पुराण आदि ग्रंथों में कामदेव की प्रतिमा बनाने की विधियां दी गयी हैं। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उससे आठ भुज हैं, चार पत्नियां; परन्तु शिल्परत्न में केवल यही कहा गया है कि वह अपूर्व सुन्दर

हो और उसकी बायीं ओर अभिलाषवती रति और दाहिनी ओर गृहकर्मनिरता प्रीति ये दो पत्नियां हों। स्थायी मंदिरों में दोनों प्रकार की मूर्तियां बनती थीं, पर अशोक वृक्ष के नीचे जो मूर्ति बनती थी वह द्विभुज ही होती होगी। रत्नावली नाटिका में राजा को अशोक वृक्ष के नीचे बैठा देखकर रत्नावली को भ्रम हो गया था कि कामदेव साक्षात् आकर पूजा ग्रहण करते हैं।

अशोक के फूल खिलाने का अनुष्ठान

कालिदास के मालविकाग्निमित्र और श्री हर्षदेव की रत्नावली में इस उत्सव के सर्वाधिक सरस अनुष्ठान, अशोक में पुष्प ले आने का विवरण मिल जाता है। भोजराज और श्री हर्षदेव की गवाही पर कहा जा सकता है कि उस दिन सुन्दरियां कुसुंभी रंग की साड़ी पहनती थीं। तुरन्त स्नान करने से रानी वासवदत्ता की शरीर-कान्ति और भी निखर आयी थी, वह कौसुंभराग से रंजित साड़ी पहनकर जब अशोक वृक्ष के नीचे कामदेव की पूजा कर रही थी तो उसके साड़ी का लाल पल्ला फड़फड़ा उठा था। उस समय राजा को ऐसा लगता था, जैसे तरुणप्रवाल विटप की लता ही लहरा उठी हो—

> प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तकान्तिः
> कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता।
> विभ्राजसे मकरकेतनमर्च्चयन्ती
> बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव॥

मालविकाग्नि मित्र से पता चलता है कि मदन देवता की पूजा के बाद ही अशोक में फूल खिला देने का अनुष्ठान होता था। रत्नावली में भी इसकी चर्चा है। इस अनुष्ठान का रूप इस प्रकार था—कोई सुन्दरी सर्वाभरणभूषिता होकर, पैरों को अलक्तकराग से रंजित करके, नूपुर सहित बायें चरण से अशोक वृक्ष पर आघात करती थी। इधर नूपुरों की हल्की झनझनाहट, उधर अशोक का सोल्लास कंधे पर से ही फूल उठना। साधारणतः रानी यह कार्य करती थीं। पर मालविकाग्निमित्र में बताया गया है कि उस दिन रानी के पैरों में चोट आ गयी थी, इसलिए उन्होंने मालविका को भेज दिया था। मालविका अशोक

वृक्ष के पास गयी, पल्लवों का गुच्छा हाथ मे पकड़ा और बायें पैर से अशोक पर मृदु आघात किया। कालिदास की लेखनी ने इस मादक चित्र को अपूर्व गरिमा से भर दिया है।

काम देवता क्या है ?

पर ब्रह्म की उस मानसिक इच्छा का, जो संसार की सृष्टि में प्रवृत होती है, मूर्तरूप ही 'काम' है। जब यह सृष्टि-रचना के अनुकूल होती है तो विष्णु और शिव का साक्षात् रूप कही जाती है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं जीवमात्र में धर्म के अविरुद्ध रहने वाला 'काम' हूँ, परन्तु जो व्यक्तिगत इच्छा धर्म के विरुद्ध जाती है, वह अपदेवता है। काम का एक रूप धर्म के अविरुद्ध जाने वाला है, दूसरा धर्म के विरुद्ध जाने वाला। पहला साक्षात् विष्णुरूप है। ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि जो आनन्द और चेतनामय रस से मन को भरता है, प्राणियों के मन में 'स्मर' या 'काम' रूप से प्रतिफलित होता है और इस प्रकार अशेष भुवनों को जीतकर नित्य विराजमान है उस आदिपुरुष गोविन्द को मैं स्मरण करता हूँ (४६)। मत्स्यपुराण में 'कामनाम्ना हरेरर्चा' कहकर बताया गया है कि वस्तुत; 'काम' नामक हरि की पूजा की जाती है। इसलिए मंदिर और मूर्ति बनाकर जिस देवता की पूजा की जाती है, वह साक्षात् विष्णु ही है। श्रीकृष्ण-गायत्री और काम-गायत्री में कोई फर्क नहीं है।

परन्तु इसका एक दूसरा रूप भी है जो व्यक्ति के विवेक को दबा देता है। पश्चिम में 'किउपिद्' नामक देवता (या अपदेवता) को अंधा माना गया है। क्योंकि वह विवेक को नष्ट करता है, मनुष्य को अन्धा बना देता है। शिव ने इसी मादक मदन देवता को भस्म किया था। उसके भावात्मक 'मनसिज' रूप को बचा लिया था। यह आश्चर्य की बात है कि हमारे शास्त्रों में वार-वनिताओं के लिए जिस मदनमूर्ति का विधान किया गया है, उसकी आंखों पर सोने के परत की पट्टी बंधवा दी जाती है। 'किउपिद्' देवता की तरह उसे अंधा तो नहीं कहा गया, पर अंधा जैसा बना अवश्य दिया गया है। हेमनेत्र-'परावृतम्' में पट्टीं सोने की होने पर भी दृष्टि शक्ति का अभाव तो हो ही जायेगा। कामदेव वसन्त ऋतु का मित्र है। परन्तु कुमारसंभव मे वर्णित

असन्त अकाल का वसन्त है; अस्वाभाविक, बेवादानीन, अपदेवता। शिव ने इसी को ज्ञान के नेत्र उन्मीलित करके भस्म किया था।

मदनोत्सव की सुरुचिपूर्णता

शास्त्रों में काम के बाण और धनुष फूलों के बताये गये हैं। अरविंद, अशोक, आम, नवमल्लिका और नीलोत्पल, ये उसके पांच बाण हैं, जिन्हें क्रमशः उन्मादन, तापन, शोषण, स्तंभन और सम्मोहन भी कहा गया है।

संसार की लगभग सभी सभ्य आदिम जातियों में वसन्त काल में उद्दाम यौवनोन्माद के उत्सव पाये जाते हैं। कहीं कहीं ये उत्सव बहुत ही स्थूल यौन-वासना के रूप में पाये जाते हैं और कहीं संयत और सुरुचिपूर्ण रूप में। प्राचीन भारत में इस उत्सव के उद्दाम रूप को संयत, सुरुचिपूर्ण और धर्माविरुद्ध देवता के रूप में संवारने का सफल प्रयत्न किया गया था। अपेक्षाकृत निम्न स्तर के लोगों में सदा वह सीमातिक्रमण करके प्रकट होता रहा और दुर्भाग्यवश अब भी किसी-न-किसी रूप में जी रहा है, परन्तु इस सहज उद्दाम लीला को शान्त, संयत और शिष्ट रूप में ढालने का प्रयत्न अवश्य ही श्लाघ्य माना जायेगा। आदिम सहजात वृत्तियों को सुरुचिपूर्ण संयत और कल्याणमुखी बनाकर ही मनुष्य 'मनुष्य' बना है, नहीं तो वह पशु ही रह गया होता। प्राचीन भारत के मदनोत्सव में मनुष्य के इस प्रयत्नशील तत्व को ही चरितार्थता प्राप्त होती है।

उपेन्द्रनाथ अश्क

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क बहुमुखी प्रतिभा के धनी है--कविता, कहानी, एकांकी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, संस्मरण आदि सभी साहित्य-रूपों को उनकी प्रतिभा का स्पर्श मिला है। नाटक और उपन्यास के क्षेत्र मे उनकी विशेष प्रतिष्ठा है। व्यंग्य-विनोद को लेकर लिखे गए उनके निबन्ध उच्चकोटि के है। 'धन्यवाद' में हिन्दी-साहित्य मे वादों के विस्तार पर बड़े मधुर व्यंग्य किये हैं और धन्यवाद को लेकर विनोद की सृष्टि की गयी है। धन्यवाद की औपचारिकता शिष्ट समाज में आडम्बर की सीमा तक पहुँच गई है। अश्क ने धन्यवाद के आडम्बर को अनावृत कर दिया है।

[६]

'धन्यवाद'

—उपेन्द्रनाथ अश्क

धन्यवाद – इस छोटे-से शब्द का ध्यान आते ही बीसियों चित्र आँखों के सामने कौंध जाते हैं।....एक अफसर तूफानी रात में अपने क्लर्क को बुलावा भेजता है। अचानक उसे बीमारी का दौरा हुआ है। गरीब क्लर्क उस तूफ़ानी रात में न केवल डाक्टरों के पीछे मारा-मारा फिरता है, बल्कि सारी रात उसकी सेवा-शुश्रूषा करता है। सुबह जब अफसर की तबीयत ठीक हो जाती है और उसके अफसर-मित्र और रिश्तेदार उसकी बीमारी की खबर सुनकर 'अफसोस' प्रकट करने के लिए (यह भी सभ्य समाज का नियम है) आते हैं, तो वह एक सूखे 'धन्यवाद' के साथ उस क्लर्क को छुट्टी दे देता है। मन में उसके है कि एक कम्बख्त की मैंने इतनी सहायता की है, धन्यवाद ही काफी है।

गरीब क्लर्क ने अपने अफसर के आड़े आकर और अफसर ने उसको धन्यवाद देकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया; लेकिन इससे अफसर को चाहे संतोष हो, यदि इसमें स्वाभिमान का लेश भी शेष है, इस रुखाई पर क्रोध हो आयेगा। सवाल अफसरी-मातहती का नहीं। कोई दूसरा अफसर अपने गरीब क्लर्क को ऐसी ही स्थिति में ऐसे धन्यवाद दे सकता है कि उसे उम्र भर के लिए ख़रीद ले।

....एक कुमारी भरे बाजार में साइकिल से फिसल जाती है और भीड़ बड़ी निर्ममता से ठहाका लगा कर आवाजें कसती हुई उसे घेर लेती है कि एक युवक बढ़ कर उसे उठा देता है। उसके खासी चोट आ गयी है। युवक झट ताँगा बुलाकर उस पर बैठाकर स्वयं उसकी साइकिल सम्हाले उसके घर छोड़ आता है। अपने घर का दरवाजा बन्द करते हुए लज्जारुण मुख और फड़कती पलकों से वह उसे 'धन्यवाद' देती है।

और यह छोटा-सा शब्द युवक के दिल के तार झंकृत कर देता है। उसके सपनों का संसार बसा देता है।

धन्यवाद—यह शब्द क्रोध भी उपजा सकता है और प्रेम भी। प्रश्न भावना का है। क्या इस शब्द के पीछे भावना की, कृतज्ञता की मिठास है या केवल कर्तव्य-पालन की शुष्कता या केवल तकल्लुफ-भरे स्वभाव की औपचारिकता। क्योंकि जहाँ यह शब्द केवल स्वभाववश जबान पर आता है, दिल को छूता ही नहीं, न क्रोध उत्पन्न करता है, न क्षोभ, न राग, न विराग उस रागिनी-सा कानों में प्रवेश करता है, पर दिल को नहीं छूता।

कुछ आधुनिकों के विचार में हमारा देश बड़ा पिछड़ा हुआ देश है। धन्यवाद की महत्ता को यहाँ के लोग अक्सर नहीं जानते। विदेशों में जहाँ ज्ञान-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं वहाँ 'धन्यवाद' के विशेषज्ञ भी हैं। ऐसे ही एक विशेषज्ञ ने 'धन्यवाद' की महत्ता का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि 'धन्यवाद'—यह छोटा-सा शब्द आपके लिए बहुत कुछ कर सकता है और उनका परामर्श है कि कोई व्यक्ति आपके लिए छोटे-से-छोटा काम भी क्यों न करे, उसे धन्यवाद देना आपका परम कर्तव्य है। इस धन्यवाद-विशेषज्ञ की पुस्तक लाखों की संख्या में बिक चुकी है और प्रकट है कि जहाँ-जहाँ यह गयी है, लोगों ने उनके परामर्श से लाभ उठाया है। हमारे यहाँ से एक वैदिक मिशनरी विलायत गये। वहाँ के एक परिवार में खाने पर निमंत्रित हुए। गृहस्वामी उस धन्यवाद-विशेषज्ञ के अनुयायी थे। हमारे वैदिक मिशनरी ने देखा कि गृहस्वामी जरा-सी कृपा के लिए खानसामा हो, बैरा हो या भंगी, मित्र हो या बीवी''''उसका धन्यवाद करना नहीं भूलते। खाने के दौरान में बेरा जितनी बार सूप या सालन या शराब या जल लाया, उन्होंने उसे धन्यवाद दिया। हमारे वैदिक मिशनरी कुछ हिसाबी आदमी हैं। उनका खयाल है कि सदा आँखें खोल कर चलना चाहिए और यदि वे किसी मकान में जाते हैं, तो उसकी सीढ़ियाँ तक गिन लेते हैं। उनके विचार में आँखें खोल कर चलने की यही निशानी है। दूसरी बार वे उस परिवार में निमंत्रित हुए, तो उन्होंने गिनना शुरू किया कि गृहस्वामी खाने के दरम्यान कितनी बार नौकर को या साथियों को धन्यवाद देता है। और

उनका कहना है कि गृहस्वामी ने ६० बार धन्यवाद दिया। यह उल्लेख करके उन्होंने भारतीयों की असभ्यता का मजाक उड़ाते हुए लिखा है कि 'धन्यवाद' सभ्य समाज का आभूषण है। इसी से संस्कृत-असंस्कृत, सभ्य-असभ्य की पहचान होती है।

मैंने जब से यह लेख पढ़ा है, मैं सोचता हूँ कि मुझे यदि खाने के दौरान में ६० बार धन्यवाद सुनना पड़े, तो मैं डाइनिंग हाल से उठकर भाग जाऊँ मुझे इस शब्द से चिढ़ है, या मैं असंस्कृत रहना पसन्द करता हूँ, ऐसी बात नहीं, पर मुझे लगता है कि स्वभाववश इसका प्रयोग इसकी महत्ता को घटा देता है। और प्रायः आदमी बिना कृतज्ञता अनुभव किये इसका प्रयोग करता रहता है और कई बार जब उसे सचमुच कृतज्ञता प्रकट करनी होती है, तो वह उसमें आभार की वह भावना पैदा नहीं कर सकता, जो कि उसे करनी चाहिए और सुनने वाले को कोफ्त होती है।

मुझे एक घटना याद आती है। मेरे एक पुराने कवि मित्र थे जो युद्ध के जमाने में कर्नल हो गये थे। कभी बहुत पहले उनका प्रेम-विवाह लाहौर की ही एक उर्दू कवयित्री से हुआ। तब मैंने उनकी बीवी को न देखा था, पर दिल्ली में जहाँ वे मेरे एक मेजर कवि-मित्र के यहाँ ठहरे हुए थे, मुझे पहली बार उन्हें देखने का इत्तफाक हुआ। वे दोनों मेजर साहब के दफ्तर में बैठे थे, जब कर्नल ने अपनी बीवी को संबोधित करते हुए 'मेरी जान' शब्द का प्रयोग किया। एक बार इनकी बेगम ने भी उन्हें इसी शब्द से पुकारा। मुझे बड़ा ही अच्छा लगा। लेकिन जब मैं शाम को मेजर साहब के घर खाने पर गया और मैंने उठते-बैठते उस दम्पति को 'मेरी जान' 'मेरी जान' का पहाड़ा रटते देखा, तो सारा रोमांस हवा हो गया। विशेषकर जब मुझे मालूम हुआ कि ऊपर से 'मेरी जान' 'मेरी जान' कहने वाले उन मियाँ-बीवी के ताल्लुकात खासे कशीदा हैं, उठते-बैठते 'धन्यवाद कहने वालों को देखकर मुझे उन्हीं मियाँ-बीवी की याद आ जाती है। शब्द 'मेरी जान' प्यारा है मीठा है, पर जब यह केवल औपचारिक रह जाता है, तो अपनी मिठास खो देता है। 'धन्य-

वाद' भी जब अन्तर की भावना के साथ (जिसकी झलक आँखों में दिखाई दे जाती है) नहीं सुनाई देता, दिल के तार नहीं छूता।

घरों में जिस तरह माँ-बाप नन्हे बच्चों को हर आने-जाने वाले के सामने हाथ उठा कर 'नमस्ते' करना सिखाते हैं और जब नन्हा-सा बच्चा कठिनाई से हाथ उठा कर छोटे बन्दर की तरह माथे पर ले जाता है, तो खुशी से फूले नहीं समाते। उसी तरह सभ्य घरानों में बच्चों को 'धन्यवाद' का प्रयोग भी सिखाया जाता है। मुझे एक भोली-सी बच्ची की याद आती है, जिसे डॉक्टर इंजेक्शन दे रहा था। वह रोये जा रही थी और 'धन्यवाद डाक्टर', 'धन्यवाद डॉक्टर !' कहे जा रही थी। एक शाम उसके पापा ने किसी शरारत पर दो थप्पड़ उसे जमा दिये। स्वभाववश उसने कहा—'धन्यवाद पापा !'

और जब मैं सोचता हूँ कि मेरा बचपन कम-से-कम इस धन्यवाद के अत्याचार से मुक्त रहा है, तो मुझे बड़ी खुशी होती है। हालांकि बहुत बचपन में इसी की बदौलत मुझे बुरी तरह पिटना भी पड़ा और वह घटना आज भी मेरे स्मृति-पट पर अङ्कित है। हुआ यों कि एक सिक्ख ज्ञानी जी मेरे पिताजी से मिलने आये। किसी बात में वे उनकी सहायता चाहते थे। जब पिताजी ने उस सहायता का वचन दिया तो वे जाते समय बड़े आभार-भरे स्वर में बोले, "पण्डितजी, मैं तुम्हारा बड़ा धन्यवादी हूँ।"

हमारे पिताजी अपने बच्चों को अंग्रेजी सिखाने के बड़े हिमायती थे। अंग्रेजी बोलने में वे ताक हो जाएँ इसकी उन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी। ज्ञानी जी के जाते ही उन्होंने आदेश दिया—"इस वाक्य की अंग्रेजी बनाओ।" मैंने धन्यवादी शब्द पहली बार सुना था। डरते-डरते पूछा, "धन्यवादी क्या होता है ?"

"धन्यवादी नहीं जानते ? वे गरजे, 'इसका मतलब है, शुक्रगुजार !' बेवकूफ ! अब बनाओ अंग्रेजी।"

लेकिन मैं फिर भी न बना सका। धन्यावादी मुझे इलाहाबादी, मुरादाबादी, मलीहाबादी की तरह लगता और मैं समझ न पा रहा था कि इसका मतलब शुक्रगुजार कैसे हो गया? फिर मैं बहुत छोटा था, अंग्रेजी नया-नया सीखने लगा था। उस वाक्य में 'तुम्हारा' की अंग्रेजी भरने का प्रयास कर रहा था। पिताजी ने स्वयं अंग्रेजी बता कर बताया। 'थंक्स' कहा और फिर इस सम्बन्ध में नये वाक्य पूछे, और जब तक उन्होंने मुझे पीट नहीं लिया, उन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

और यों धन्यवाद से मेरा प्रथम परिचय हुआ। पंजाब में यह वाक्य—'मैं तुम्हारा बड़ा धन्यवादी हूँ' मैं बराबर सुनता रहा, लेकिन हिन्दी में आभार से आभारी तो है, पर धन्यवाद से धन्यवादी नहीं है। होता तो कितनी आसानी हो जाती? कभी-कभी मैं यह जरूर सोचा करता हूँ।

'धन्यवाद' मुरादाबाद और इलाहाबाद की तरह है, यह मैंने बचपन में सोचा था, लेकिन पिछले दिनों जब मैं काश्मीर में था, वहाँ के एक उर्दू भाषी कश्मीरी मित्र ने कमाल कर दिया। इधर जब से काश्मीर हिन्दुस्तान के साथ मिल गया है, राष्ट्रभाषा और उसके साहित्य के बारे में वहाँ लेखकों में काफी जिज्ञासा जगी है। हमारे ये मित्र हिन्दी पढ़ तो नहीं सकते, पर हिन्दी-कवियों और कहानी-लेखकों के बारे में बातचीत करने के बड़े शौकीन हैं। जाने किसी ने उनसे मजाक किया या उन्हें बनाया, वे मुझसे मिलने आये, तो बड़ी संजीदगी से हिन्दी-कवियों के बारे में बात-चीत करने लगे। सहसा उन्होंने पूछा, "अश्कजी, हिन्दी कविता में यह जो धन्यवाद नाम से नया वाद आया है, यह क्या है?"

मैं क्षण-भर उनके मुँह की ओर देखता रहा। कोई युवक यह बात कहता, तो मैं समझता मुझसे मजाक कर रहा है, पर एक तो वे आर्टिस्ट, दूसरे उम्र में मुझसे एक-दो साल बड़े, संजीदा, मतीन और गम्भीर।.......मैं हँसा। "आपने धन्यवाद के बारे में क्या सुना?" मैंने पूछा।

"छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बारे में मैंने काफी जानकारी हासिल की है," वे बोले, "लेकिन अभी कल ही एक मित्र ने बताया कि हिन्दी

में नया वाद शुरू हुआ है वे —धन्यवाद। और उन्होंने वचन दिया है कि इस वाद की कुछ कविताएँ वे मुझे सुनाएँगे। मालूम हुआ कि आप हिन्दी के अच्छे लेखक और कवि हैं, तो मैंने सोचा कि आप ही से इस नये वाद के बारे में कुछ जानकारी हासिल करूँ।"

"हाँ, धन्यवाद भी एक वाद है," मैं हँसा।

लेकिन उन्होंने मेरी हँसी की ओर ध्यान नहीं दिया। उसी संजीदगी से बोले, "क्यों साहब, उर्दू में तो वाद इतनी जल्दी नहीं बदलते। हिन्दी मे ऐसा क्यों होता है ?"

हिन्दी वालों को बड़ा शौक है" मैंने कहा, "उर्दू में जहाँ युगों-युगों के बाद नया वाद चलता है, हिन्दी में नये दिन नया वाद उगता है।"

कश्मीरी मित्र हैरत में आँखें फाड़े, मुँह बाये मेरे ओठों से निकलने वाला एक-एक शब्द मानो पी रहे थे।

"वह कवि हिन्दी में कवि माना ही नहीं जाता", मैंने उन्हें समझाया, "जो किसी नये वाद को जन्म न दे और चार-छह कवियो को अपने पीछे न लगा ले। छायावाद का जोर बढ़ा तो किसी कवि ने प्रगतिवाद का नारा दिया, फिर चारों ओर प्रगतिवाद की तूती बोलने लगी, और छायावादी कवि भी अपने आपको प्रगतिवादी कहने लगे, फिर किसी कवि ने प्रयोगवाद का स्वर अलापा, तो जिधर देखो प्रयोगवादी कवि नजर आने लगे और पुराने प्रगतिवादियों ने कहना शुरू किया कि भाई, प्रयोगवाद कोई नया वाद नहीं, प्रयोग तो हर युग में होते आये हैं और हम स्वयं प्रयोगवादी हैं। अब इन प्रयोगवादियों का जोर कम करने के लिए "धन्यवादी कवि मैदान में उतर आये हैं।"

कश्मीरी मित्र यह सब सुन कर बड़े प्रसन्न हुए। "धन्यवाद की कविता कोई नमूना तो बताइए, मुझे बड़ा इश्तयाक है।" उन्होंने फरमाइश की।

मैंने कहा, 'मुझे इस समय तो याद नहीं। नया-नया ही यह वाद निकला छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का निचोड़ इस धन्यवाद को समझिए।'

'तो भी इस वाद की किसी कविता का कोई एकाध बन्द ही सुनाइए।'

अब मैं क्या कहता ! 'लो आप-अपने दाम में सय्याद आ गया' के अनुसार स्वय अपने जाल मे फँस गया। एक जरूरी टेलीफोन करने के बहाने उन्हें वहीं बैठा कर मैं नीचे होटल मे गया और वहाँ पाँच मिनट कुर्सी पर बैठकर जो मन में आया लिख लाया। आकर मैंने कहा, "कोई पूरी-की-पूरी धन्यवादी कविता तो मुझे याद नहीं। एक बन्द सुनिए। सभी वादों की चाशनी आपको इसमें मिल जाएगी—

आज क्यों मेरे स्वर हैं मौन ?
गिरा को लाज
घिरा अवसाद
कोढ़ में खाज।
कि जैसे किसी श्रमिक के थके हुए तन पर मन की आवाज !
किन्तु यह घाव पुराने,
तन-मन के जाने-पहचाने,
यद्यपि अनोखा सुख है इनमें आज !
ओ मेरे दुख देने वाले,
देख, नहीं करता मैं जरा कहीं फ़रियाद !
ओ देता हूँ तुझे —
एक बार,
दो बार,
दस, बीस, पचास, शत-शत बार
सहस्र बार
धन्यवाद !

उन्होंने चाहा कि धन्यवाद-युग के काव्य को यह अनुपम कृति में उन्हे लिख दूँ। पर मैंने उनसे कहा कि यह कोई बहुत अच्छी रचना नहीं। धन्यवाद-धारा की बड़ी अच्छी कविताएँ इधर हिन्दी में हुई है। मै इलाहाबाद से कुछ पत्रिकाएँ मँगा रहा हूँ, तब आपको कोई अच्छी-सी धन्यवादी कविता लिखाऊँगा।

---

[१०] हवाई के साथ मेरा अभिसार

— विद्यानिवास मिश्र

हवाई द्वीप पर्यटकों का स्वर्ग कहा जाता है, पर्यटक ही उसकी पूँजी है। प्रशान्त महासागर के वैसे जितने भी द्वीप हैं, वे सभी रंगों की शोखी, मदिर अलसता, उष्णकटिबन्धीय सुगन्धि की विह्वलता तथा आदिम-जीवन की बेसुधी के कारण सैलानियों के चित्र लुभाने वाले हैं, पर हवाई द्वीप बहुत ही विशिष्ट हैं, विशिष्ट इस माने में कि वे आधुनिकता के बीच में आदिम हैं। प्रशान्त महासागर का गरजना, तालीवनों का मर्मराना, आर्किड की गन्ध का लहकना, चटकती धूप का हरियाली से हाथ बाँध कर थिरकना, हुला नर्तकियों के वल्कल-वसनों का उस छायातप में लहराना — यह सब चल रहा है, पोलिनेशियन भाषा के नाम सड़कों, गलियों पर चल रहे हैं, पर हैं ये कोडक की रीलों के शिकार, यान्त्रिक एकरसता से ऊबी आँखों की एक घूँट, बनाव के घेरे से निकले बन्दी का एक ग्रास, सभ्यता की फैशनपरस्ती के लिए आमोद। यहाँ आकर ही मनुष्य की विजय-यात्रा में सन्देह होने लगता है कि क्या जीवन का सहज उल्लास, प्रकृति के रंगों की मुक्त क्रीड़ा और प्रकृति-पालितों का छन्दोबद्ध नर्त्तन मुक्त नहीं रखा जा सकता ? क्या उसे भी लाल हरे संकेतों का गुलाम बनाना ही संस्कृत मानव के कर्त्तव्य की इतिश्री है ? पर जाने दीजिए इस विवेचन में अभिसार-उत्सुक पाठक को क्या रुचि होगी !

अभिसार : यह शीर्षक मैंने जान-बूझ कर दिया है। मुझे एक बार अमरीका जाते समय हवाई में लम्बी हवाई यात्रा की थकान के कारण रुकना पड़ा और बिना किसी इच्छा के ही इस द्वीप के आमोद-प्रमोद की धुंधली और नशीली रात का नजारा देखना पड़ा। बेमन से एक नृत्य-मण्डप से दूसरे नृत्य-मण्डप की झांकी लेता रहा और इसके साथ ही शराब में डूबे विगलित वय जोड़ियों को बड़ी करुणा से दूर भागते यौवन को पुकारते देखता रहा। बेशुमार

विद्यानिवास मिश्र

श्री विद्यानिवास मिश्र का हिन्दी के नये लेखको में महत्वपूर्ण स्थान है। वे संस्कृत-साहित्य के पण्डित हैं और आधुनिक साहित्य के समीक्षक। मिश्रजी के निबन्ध उच्चकोटि के व्यक्तिपरक निबन्धों के निदर्शन हैं। अमेरिका-प्रवास के समय उन्होंने हवाई द्वीप का भी भ्रमण किया था। उनका पर्यटन-सम्बन्धी यह निबन्ध केवल एक सैलानी का वर्णन नहीं है, एक चिन्तनशील साहित्यकार का अवलोकन है। पर्यटन-सम्बन्धी निबन्ध केवल ज्ञान-वर्धक ही नहीं होते, वे नये अनुभवों के प्रति एक व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं का आलेखन भी करते हैं—अनुभव-संचय कलात्मक निबन्ध का काम्य नहीं है उन अनुभूतियों की चेतना प्रमुख है, जो साहित्यकार की आत्मा को मथती हैं। श्री मिश्र का निबन्ध इस दृष्टि से पठनीय है।

[१०] हवाई के साथ मेरा अभिसार

— विद्यानिवास मिश्र

हवाई द्वीप पर्यटकों का स्वर्ग कहा जाता है, पर्यटक ही उसकी पूँजी है। प्रशान्त महासागर के वैसे जितने भी द्वीप हैं, वे सभी रंगों की शोखी, मदिर अलसता, उष्णकटिबन्धीय सुगन्धि की विह्वलता तथा आदिम-जीवन की बेसुधी के कारण सैलानियों के चित्र लुभाने वाले हैं, पर हवाई द्वीप बहुत ही विशिष्ट हैं, विशिष्ट इस माने में कि वे आधुनिकता के बीच में आदिम हैं। प्रशान्त महासागर का गरजना, तालीवनों का मरमराना, आर्किड की गन्ध का लहकना, चटकती धूप का हरियाली से हाथ बाँध कर थिरकना, हुला नर्तकियों के वल्कल-वसनों का उस छायातप में लहराना — यह सब चल रहा है, पोलिनेशियन भाषा के नाम सड़कों, गलियों पर चल रहे हैं, पर हैं ये कोडक की रीलों के शिकार, यान्त्रिक एकरसता से ऊबी आँखों की एक घूँट, बनाव के घेरे से निकले बन्दी का एक ग्रास, सभ्यता की फैशनपरस्ती के लिए आमोद। यहाँ आकर ही मनुष्य की विजय-यात्रा में सन्देह होने लगता है कि क्या जीवन का सहज उल्लास, प्रकृति के रंगों की मुक्त क्रीड़ा और प्रकृति-पालितों का छन्दोबद्ध नर्त्तन मुक्त नहीं रखा जा सकता ? क्या उसे भी लाल हरे संकेतों का गुलाम बनाना ही संस्कृत मानव के कर्त्तव्य की इतिश्री है ? पर जाने दीजिए इस विवेचन में अभिसार-उत्सुक पाठक को क्या रुचि होगी !

अभिसार : यह शीर्षक मैंने जान-बूझ कर दिया है। मुझे एक बार अमरीका जाते समय हवाई में लम्बी हवाई यात्रा की थकान के कारण रुकना पड़ा और बिना किसी इच्छा के ही इस द्वीप के आमोद-प्रमोद की धुंधली और नशीली रात का नजारा देखना पड़ा। बेमन से एक नृत्य-मण्डप से दूसरे नृत्य-मण्डप की झांकी लेता रहा और इसके साथ ही शराब में डूबे विगलित वय जोड़ियों को बड़ी करुणा से दूर भागते यौवन को पुकारते देखता रहा। बेशुमार

मोटरो की कतार प्रशान्त महासागर के किनारे दौड़ लगा रही थी। लगता था जैसे जंगल मे हथिनी के शिकार के लिए हाका पड़ा हो. और हथिनी किसी सरोवर में बैठ कर हांफ रही हो। जो लोग इस आखेट में रस ले रहे थे वे हथिनी की ललित गति के प्रेमी नहीं थे, उसको सूंड में उठाए सनाल कमल में उत्कण्ठित नही थे, वे एक हिंस्र मादकता मे डूबे हुए थे। वे हथिनी को अपने बड़े ज़ू (चिड़ियाघर) के काठ के घेरे मे गिरफ्तार करना चाहते थे। मै इस आखेट में सुबकती एक प्रतिमा देख रहा था, वह प्रतिमा थी हवइइ (हवाई का ठीक उच्चारण यही है) की, वह बुला रही थी सूर्यास्त के रंगीन मण्डप में लहरों के नूपुरों की झनकार के बीच नारियल के तोरणों के नीचे, स्नेह के संस्पर्श से ऊष्म सैकत शय्या पर। मै जिन मित्र के साथ कार में घूमने निकला था, वे सौभाग्यवश सुसंस्कृत थे और मेरी तरह ही मद्धिम रोशनी से और पैमाना बँधे उन्मुक्त-विलास से शीघ्र ही ऊब गये और विजन समुद्र-तट पर मुझे ले गये।

सभ्यता और जुए की मशीनें

रात गहरी होती जा रही थी, दूर टंका शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा मिटता जा रहा था, महासागर की मुखरता तेज होती जा रही थी, हवा नारियल की पंक्तियों से उलझती जा रही थी, बालू पर बिखरे फेन अब बैठने लगे थे। इतने में लगा कि पास के आर्किड-वनों से कोई सुवासित आमन्त्रण आकर सिहरा गया। हवा का रुख यकायक बदल गया था। मुझे अभिज्ञानशाकुन्तल की पंक्ति याद आयी—अयि चक्रवाकवधुके आमन्त्रयस्व सहचरमियमागता रजनी (चकई अपने संगी को एक बार बुला लो, यह रात आ गयी)। लगा कि प्रकृति की चकई समूचे विश्व में एक-सी आमन्त्रणशील है, एक-सी विश्लेषभीरु है। वह जहाँ देखती है कि वियोग की रात घिरने वाली है, आकुल होकर पुकार उठती है: संगी आओ, एक बार हम दोनों फिर अपने-अपने मृणाल अदल-बदल लें, क्योंकि ये मृणाल ही स्नेह-सूत्र बनाये रखते है। उस रात भी सोचा था और जाने कितनी और रातें इस सोच में सुबह हो गयी हैं कि सभ्यता के प्रकाश के स्तम्भ के नीचे इतना घना अन्धकार कैसे सिमट गया है कि मनुष्य अपनी सहजता से एक पुरइन की ओट से बिलग है और उसे ढूंढ नहीं पाता। वह

ढूंढ़ने की हजार कोशिशें करता है, कभी तो वह सभ्यता के सब आवरण फेंक कर सोचता है, अपने सहज रूप को पालेगा, कभी वह सोचता है कि सहजता कुछ पालतू जंगली फूलों को पिरो कर माला के रूप में रची जा सकती है, कभी विस्मृति की धारा में अपने को डाल देने से अपने-आप किनारे के रूप में मिल जाती है, और कभी वह केवल उसे कुछ मानसिक वृत्तियों का रासायनिक योग मान कर घर में अफ्रीकी कला की पुस्तकें रखता है, हस्त-शिल्प की चीजें सजाता है, लोकगीतों के रेकार्ड बजाता है और तीखी महक वाले फूलों का सेण्ट छिड़क कर उद्दाम वातावरण रचता है। पर सहजता है कि पकड़ में आकर, छटपटा कर फिर अलग हो जाती है। मैंने सोचा कि मैं तो गवार हूँ। हिन्दुस्तान के एक भद्दे-से इलाके से आया हूँ। विन्ध्य के जंगलों में रहा हूँ, मेरे संस्कार होंगे जिनके कारण मुझे सभ्यता भा नहीं रही है, भा रहा है, एक अपरूप हवइइ के साथ खतरनाक (बुद्धिशोषी) अभिसार। और मैंने अपने को संयत किया, लौटकर स्काई इन (हवा सराय) होटल आया, देखा उसके लाऊंज में जुआ गरम है। जुए की भी मशीनें बन गयी हैं। एक-एक आदमी एक साथ कई मशीनों में पैसा डाल रहा हैं। मशीनें घूम रही हैं, निशान गेंदों की पंक्ति पर साधे जा रहे हैं और परिणामफलक पर अंक मिट रहे हैं, बन रहे है। हरेक आदमी दूसरे की जीत से जल रहा है और हर जलन को शराब की एक नयी घूंट से बुझाने की कोशिश कर रहा है। और जलन है कि बुझती नहीं है। इतने में एक सूचना प्रसारित होती है; अमुक-अमुक हवाई उड़ानों का समय हो गया, लिमोजीन खड़ी है, इनके यात्री पोर्टिको में आ जायें और खेल थम जाता है।

ज्वालामुखी वाली संस्कृति

पहला अभिसार इसलिए बौद्धिकता का शिकार हो गया, मैं पिछले साल दूसरी बार जब अमरीका गया तो एक मित्र का निमन्त्रण मिला कि हव-इइ होते हुए स्वदेश लौटीं। इस बार दो दिन होनोलूलू (हवइइ की राजधानी) रहा। दिन कुआर के थे, कुछ थोड़े से बादल अखाड़ा में जमे हुए थे, पर हल्की फुहार से अधिक कुछ देने को उनके पास नहीं था। धूप तेज थी और फूलों का

मौसम अपने जोम पर था। फूलों की माला को वहां की भाषा में 'लेई' कहते हैं और हवाई अड्डे से बाहर निकलते ही लेई बेचने वाली मालिनें जो दिखीं तो रास्तों भर उनकी पांत लगती गयी नहा-धोकर ही मैं अपने आतिथेय डॉ० श्रीकृष्ण सक्सेना और डा० दयाकृष्ण (दोनों दार्शनिक हैं) के साथ वैकीकी समुद्रतट देखने निकल गया। फिर वहा से एक जगह गया, जिसे ब्लो होल कहते हैं। वहां एक सूराख है जिसमे लहर आने पर पानी बांसों उछलता है, हवइइ को फख है अपने ज्वालामुखी पर। ज्वालामुखी का विस्फोट इस द्वीप के इतिहास में सदैव मंगलकारी रहा है। सबसे नया विस्फोट उसी दिन हुआ, जिस दिन हवइइ संयुक्त राज्य का एक अलग स्वायत्तशासी राज्य घोषित हुआ। जो भी अनपढ़ सौन्दर्य इस द्वीप में है, जो भी उर्वरता इस धरती में है, वह ज्वालामुखियों के विस्फोट की प्रसादी है। जिस संस्कृति का जन्म ही ज्वालामुखी के विस्फोटों से हो, उसमें रूप की प्रखर ज्वाला क्यों न होगी! पर अब इस ज्वाला के दिन लद गये, अब यह सांझ की लालो मे सिमट कर रह गयी है। इसीलिए यहां की सांझ बहुत सुहावनी होती है। इस सांझ में अब हल्का-सा उत्ताप रह गया है। बस उतना जितना कि हवइइ के गीत सोनेमढ़ी पोर-पोर बन्धी बांसुरियों मे बिखेर पाते हैं।

मैं इस बार अधिक सौभाग्यशाली था। अमरीका में एक बरस से अधिक रह चुका था। पश्चिम के कलाकारों की हृदयेश्वरी इटली में अच्छी तरह घूम चुका था। ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्ष को भी बहुत नजदीक से देख चुका था और प्रगति की दौड़ में भी अपने भीतर झांकने वालों दीठ में दीठ डालकर एक विश्वव्यापी आकुलता से झांक चुका था। इसलिए दूसरी बार जब हवइइ की ताम्रछवि ने आमन्त्रण दिया तो ना न कर सका। सक्सेनाजी काफी रात गये मुझे मेरे होटल छोड़कर जब चले गये, तो मैंने कैमरा कमरे में रखा और रेती में नंगे घूमने निकल पड़ा। इक्के-दुक्के जोड़े मिल जाते थे, जिनके मद-अस्फुट अधूरे शब्द अतृप्त विलास में डूबते रहते थे। एकाध सैलानी भी मिले, नाचघर से किसी मूल निवासिनी को संग लेकर उनके जीवन का संचित रस एक साथ प्रश्नों के कटोरदान में उड़ेल लेना चाहते थे। प्रत्येक उत्तर के बाद उनके मुँह में

अर्थहीन विस्मय के वाक्य निकलते थे : कितना सुन्दर ! कितना अद्भुत और कितना अपूर्व ।

प्रणय की पाती और कामना का संगम

मुझे तब याद आया कि ये सैलानी हमारे देश में भी कम नहीं हैं, आदिवासियों के और देहातियों के गीत इकट्ठा करने वालों में अधिक प्रतिशत इन्हीं लोगों का है, जिनके लिए संघर्ष में मुस्काने और गाने वालों का जीवन रूमानही रूमान है । ये न तो उस मुस्कान का मोल आंक पाते हैं न उस गीत की लम्बी खींच तक ही पहुँच पाते हैं । इनके लिए उनका अस्तित्व गुलदस्ते में (वह भी जापानी) कांटों, नुकीली झाऊ की पत्तियों और अनजानी डालियों के बीच कसकर बंधने तक सीमित होता है । मैं दूर निकल गया । मन कहता था कि किसी को भी न छेड़ो, यान्त्रिक सभ्यता की बेबसी को भी नहीं, आदिम संस्कृति की पिंजरबद्ध रागिनी को भी नहीं चुपचाप संस्कृति का अभिमान बालू में गाड़ दो और तब धरती, आकाश, सागर सब के संग हो लो । जो आपाधापी में कुछ क्षण छीनकर लेना चाहते हैं, उन पर आक्रोश करना व्यर्थ है और जिसने अपनी मुस्कान कोडक शो को बेच दी है, उनसे ताजगी को आशा करना व्यर्थ है । कृतज्ञ बनो उस संस्कार के जिसने वनस्पतियों के रस सोम की चन्द्रमा से एकाकार किया, जिसने पशु-पक्षियों के द्वारा प्रणय की पाती भिजवाने की परम्परा का महत्व समझा, जिसने जीवन को जल के प्रवाह से अभिन्न पाया और जिसने एक क्षण के लिए भी अपने को विश्व की सत्ता से अविलग देखने की कामना न की—वह संस्कार केवल तुम्हारा है यह दर्प न करो, वह संस्कार प्रत्येक सहृदय का है, उस सहृदय को दर्प से नहीं, विनय से ही और अपने संस्कार की सहजता से ही पा सकते हो ।

दूसरे दिन जब मैं हवइइ विश्वविद्यालय के हरे-भरे प्रांगण में पहुँचा और वहां मुझे प्राची-प्रातीची केन्द्र (ईस्ट-वेस्ट सेण्टर) का कार्य देखने को मिला, तो मुझे लगा कि यह हवइइ की स्थिति से बहुत संगति रखता है कि एक उत्फुल्ल आदिम संस्कृति की सन्ध्या में दो संस्कृतियां एक दूसरे को निरखें, एक दूसरे को

अपनायें न (अपनाना कभी होता नहीं है, होता है पूर्ण विलयन या बरगद की तरह एक ही की छत्र-छाया का विस्तार)। उस आदिम संस्कृति की किरणें इन दो संस्कृतियों को एक दूसरे को समीप से देखने भर को आलोक दे रही हैं, इस आलोक का लाभ उठायें। तभी अभिसार सार्थक होगा, जबकि पूर्व का आत्म-केन्द्रित दम्भ झुकेगा और प्रतीची की प्रगल्भता अपने आप कम होगी। हवइइ द्वीपमाला की प्रकृति से मेरा दूसरा अभिसार इस उपलब्धि के कारण अधिक विलोभनकारी रहा, उसके चमत्कार का जादू इस बार उतर चुका था, उसके आमन्त्रण की गहराई का आभास मुझे इस बार ही मिला और मैं अभिसारिका हवइइ के प्रति सरल हृदय से आभारी हूँ कि उसने हृदय को सम्पन्न बनाया साहचर्य के ऐसे संस्पर्श से जिसके बिना संस्कृतियां मुरझा गयी हैं, चिराग गुल हो गये हैं और मकरन्द धूलि में मिल गया है।

इलाचन्द्र जोशी

श्री इलाचन्द जोशी हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। जोशीजी कभी कवि भी रहे हैं, पर कथा-साहित्य और एक सीमा तक समीक्षा को ही उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। संस्मरण एक अलग साहित्य-विधा है—संस्मरण द्वारा लेखक अपने सम्पर्क में आये व्यक्तियों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है अथवा बीती घटनाओं की स्मृतियों का साक्षात्कार करता है। जब वह स्वयं अपने जीवन का अवलोकन करता है तो आत्मकथा की सृष्टि करता है। निबन्ध में व्यक्तियों, घटनाओं और अन्य स्मृतियों का स्मरण उदाहरण के लिए या किसी प्रसंग छिड़ जाने पर सम्भव है, पर वह उसका प्रतिपाद्य नहीं। श्री जोशी ने अपने अतीत की कुछ घटनाओं का स्मरण करते हुए अपने तिरेपनवें जन्म-दिन पर अपने जीवन की दिशा का विवेचन किया है। वे मनोवैज्ञानिक कथाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं ही, अपनी आज की मान्यताओं और विश्वासों का सूत्र बचपन के अनुभवों में खोजते हैं। श्री जोशी का विश्वास है कि आज के युग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा वैज्ञानिक प्रसार एक दिन अपना महादम्भ त्याग देंगे और एक विशिष्ट और विशुद्ध जीवन-धारा प्रवाहित होगी—इस विश्वास की पूर्व-छाया उन्हें बचपन में ही दिख चुकी थी।

[११]

जन्म - दिन

—इलाचन्द्र जोशी

आज मेरा तिरेपनवाँ जन्म-दिन है। कुछ क्षणों के लिए पचास वर्ष की अवस्था के बाद अपने पिछले जीवन का लेखा-जोखा करने का सहज नैतिक अधिकार साधारणत: सभी व्यक्तियों को अनायास ही सुलभ हो जाता है। पर मेरी आत्मा अभी तक मुझे उस अधिकार के अयोग्य मानती है। फिर भी मेरे अन्तर में आज, न जाने क्यों, इस सम्बन्ध मे एक कुतूहल भाव जगा है! पिछली गतिविधियों का हिसाब-किताब सभालने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि अतीत की टूट-फूट और धुँधली झाकियाँ देखने की इच्छा से।

विगत जीवन का लेखा-जोखा करने की इच्छा मेरे मन मे उठती ही न हो, ऐसी बात नहीं है, भगवती बाबू की 'असफलता के पैंतीस वर्ष' सम्बन्धी कविता से प्रेरित होकर 'असफलता के ५३ वर्ष' शीर्षक से एक निबन्ध लिख डालने की बात मन में गुदगुदी अवश्य मचा रही है। पर शायद ५३ की सख्या ३५ से ठीक उलटी होने के कारण इस सम्बन्ध मे मन के भीतर कहीं कुछ अन्तर्विरोध जान पडता है; क्योंकि इस विशेष क्षण मे असफलता को कोई भी अनुभूति पूरी भावुकता के साथ जग ही नहीं पा रही है। जो अस्पष्ट, स्फुट और बिखरी हुई स्मृतियाँ जग रही हैं उनका असफलता से कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। उनका एक दूसरे से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सब जीवन के आनन्द की मूलगत अनुभूतियों से सम्बन्धित हैं।

मुझे दिखाई दे रहा है कि अपने जन्म-स्थान का वह जीर्ण वास-भवन जहाँ से अपने चचल बचपन के विकासशील दिनों मे मैं प्रतिदिन प्रात काल पूर्व की ओर सूर्योदय के ठीक पहले हिमालय-श्रेणी के एक अर्द्ध-गोलाकार लघु-खण्ड को नव अरुण राग से रजित देखता था। उसके बाद ही पश्चिम की ओर वे

विशाल और विस्तृत हिमगिरिमालाएं मेरे अन्तर की आंखों के आगे अपनी झिलमिल झलक दिखा रही है जहा सन्ध्या को सूर्यास्त के समय क्रम से सोने, तांबे और चांदी की प्रज्ज्वलित वर्णच्छटाएं एक निराले ही रहस्यात्मक अनुभूति-लोक में मुझे एकाकी छोड देती थीं। सिननोले की ओर वाले उस माया वन की भी झांकी मुझे दिखाई दे रही है, जहा चीड के पेडो की दो कनारो के बीच मे चीड़ की घासनुमा सूखी और नोकी पत्तियो की लाल बजरी वन-देवी के नि.शब्द विचरण के लिए पावडे बिछाये रहती थी। न जाने अपने कैशोर जीवन के कितने प्रभात, दुपहरियां और सांझें उस माया-वन भूमि मे मैंने भावमग्न अवस्था में बितायी हैं। याद आ रही है, शुभ्र शरत्काल की वे निर्मल चादनी रातें, जो चीड, बांझ और देवदारु द्रुमो की सघन छाया के ऊपर चादनी का पारदर्शी चंदोला तानकर न जाने पिछले जन्मो की किन-किन बहुरंगी और चित्र-विचित्र भाव वेदनाओं को जगाती रहती थी। इस टीले का सुस्पष्ट प्रतिबिंब स्मृति पटल पर पड़ रहा है जहा की ऊंचाई मे पहाड के पदमूल पर सिसकारिया भरते वाली कोसी नदी स्फटिकों की माला की तरह दिखाई देती थी।

मुझे जाड़ो की वे विकराल सांझे और रातें याद आ रही है जब सारा आसमान हिम बरसाने की तैयारियों में जुटे हुए काले बादलो से ढका रहता था और आस-पास के पहाड़ो म घना कुहरा छाया रहता। अंगीठी के चारो ओर सब बच्चे बैठे रहते और शिब्बू भैया अध्यक्ष-पद ग्रहण किये हुए भूतो और प्रेतो की विचित्र दुनिया की अद्भूत कहानिया सुनाया करते। उनकी अधिकाश कहानियां 'आप-बीती' हुआ करती थीं। उनके चेहरे का गाढ़ा काला रंग, मस्तक के कृष्ण-पट पर अनिवार्य रूप से अंकित सिन्दूरिया चिन्ह और साढे छः फीट लम्बा शरीर देखते बनता था, जैसे वह अभी-अभी भूतों की दुनिया की सैर करके लौटे हो। "शिब्बू भैया, फिर क्या हुआ ?" अपने दिल की धडकन के साथ-साथ बढ़ती हुई उत्सुकता से प्रेरित होकर मैं पूछता।

"हां, तो भैया, उस (पथरीले) पहाड के एकदम संकरे रास्ते से होकर हम तीन आदमी चढ़ाई पर चले जा रहे थे। एकदम खडी चढ़ाई थी। हम लोग हांफते हुए धीरे-धीरे चले जा रहे थे। कहीं एक भी पेड नहीं दिखाई देता

था, जिसकी छांह के नीचे बैठकर हम लोग कुछ देर सुस्ताते। आस-पास में कहीं एक भी मकान नहीं था। चलते-चलते थक गये थे। प्यास के मारे बुरा हाल था। किसी तरह मरते-मरते जब आधे मील तक और ऊपर चढ़ गये तब अचानक मेरी नजर बाईं ओर एक नाले की ओट में दो बांस के पेड़ों के बीच में छिपे एक छोटे से मकान की ओर गई। एक छोटा-सा दुमंजिला मकान था। देखने में एकदम नया मालूम होता था, पर जगह-जगह पत्थर उखड़े हुए दिखाई देते थे……"

"तब क्या हुआ ?"

"हम लोग ऊपर चढ़कर उसी मकान के पास जा पहुँचे। जाकर देखा सारा मकान खाली पड़ा था। एक बड़ा-सा कमरा नीचे था और उतना ही बड़ा एक कमरा ऊपर था। भीतर जगह-जगह दो-दो बड़े-बड़े पत्थर रखकर चूल्हे बनाये गये थे और दीवारों पर कालिख लगी हुई थी। यात्री लोग वहाँ डेरा डालकर खाना बनाते होंगे। ऊपर के कमरे में दो कोनों में पुआल पड़ी हुई थी……"

"क्या भूत लोग आकर वहां पुआल रख गये थे, शिब्बू भैया" ?

"पता नहीं, कौन रख गया था। हम लोगों ने वहीं ठहरने का निश्चय कर लिया, अपनी-अपनी गठरी और कम्बल हम लोगों ने वहीं उतार दिये। अपनी-अपनी गठरी खोल कर हमने खाने की चीजें निकाल लीं और खा-पीकर घड़े का पानी पीकर जल्दी ही पुआल पर लेटकर सो गये। घड़ा हमें एक पास की छोटी नदी के पास औंधा पड़ा मिला था। आधी रात को एक जोर के धमाके की आवाज सुन कर मेरी नींद उचटी। जब मुझ में पूरी तरह चेतना लौट आई तब मैंने कच्चे फर्श पर कान लगा कर सुना। मुझे ऐसा लगा जैसे नीचे बहुत बड़ी महफिल जमी हुई है। ऐसा मालूम पड़ा कि कुछ औरतें नाच रही हैं। घुंघरुओं के बजने की आवाज भी साफ सुनाई देती थी। मैंने पुआल हटाकर मिट्टी का फर्श जहां पर उखड़ा हुआ था वहां से नीचे की ओर देखा। एक छोटे से छेद ने सब कुछ दिखाई दे रहा था……"

"तो क्या देखा तुमने गिन्नू भैया ?"

"सारा कमरा रोशनी से जगमगा रहा था। रोशनी किस चीज से हो रही थी, पता नहीं। न कहीं मिट्टी का कोई दीया दिखाई देता था, न शीशे की चिमनी वाला कोई लैम्प। एक ओर कई जवान औरतें खड़ी थी, जो रंग-बिरंगे दुपट्टे और लहँगे पहने थीं। सिर से लेकर पाँव की उँगलियों तक वे सोने और चांदी के गहनों से लदी थीं. दूसरी ओर सफेद पगड़ी, लाल कोट व पीले चूड़ीदार पाजामे पहने कई जवान खड़े थे, उनके पाँव में भी घुंघरू बंधे थे। किसी के हाथ में डमरू और किसी के हाथ में बांसुरी थी। बीच में एक आदमी सोने की झालरदार पगड़ी पहने खड़ा था। और हाथ में सोने की ही एक बहुत बड़ी बांसुरी थी। उसकी हिदायतों के अनुसार स्त्री-पुरुष के जोड़े घुंघरुओं में छूम-छनन, छूम-छनन करके नाचते थे। नाचते समय कई डमरू एक साथ बजते थे और कई बांसुरियां भी। पर उनकी आवाज बहुत ही धीमी लगती, जैसे कहीं बहुत दूर से आ रही हो···· "

"तब क्या हुआ ?" पूछते समय मेरे रोंगटे खड़े थे और हृदय बेतहाशा धड़क रहा था।

"होना और क्या था ? बहुत देर तक वे लोग इसी तरह नाचते, गाते और बजाते रहे। बीच-बीच में टकसाल से एक दम नये निकले हुए-से चांदी के रुपयों की बौछार होती थी। एक आदमी जालीदार थैली से मुट्ठी-मुट्ठी भर रुपये निकाल कर ऊपर उछालता हुआ नीचे बिखेरता था। पर उठाने वाला कोई नहीं था। रुपये फर्श पर ही पड़े रह जाते। जब सुबह होने को कुछ ही देर रह गई तब चांदी और सोने की थालियों में बढ़िया व्यंजन परोसे गये और सबने बैठकर खाया···· "

"खाना कहां से आया ? किसने बनाया ?"

"यह मैं न कुछ देख सका, न समझ ही सका। जब वे लोग खा-पी चुके तब कहीं से किसी जंगली मुर्गे की बांग देने की आवाज सुनाई दी। मुर्गे के बांग देते ही सारी रोशनी बुझ गई और महफिल में सन्नाटा छा गया·····"

"वे लोग सब कहां चले गये ?"

"उस समय अंधेरे में मैं कुछ देख न सका। अचानक ऊपर वाले कमरे के दरवाजे पर जिसके भीतर हम लोग लेटे थे, किसी ने दस्तक दी ......"

"दस्तक क्या चीज होती है, शिब्बू भैया ?" कांपती हुई आवाज में मैंने पूछा।

"दस्तक दी—माने दरवाजा खटखटाया और किसी ने जनानी आवाज में कहा—'ला मेरा घड़ा! ला मेरा घड़ा!" मैं तो मारे डर के थर-थर कांपने लगा। मैंने चुपचाप कम्बल में अपना मुँह ढांक लिया। बहुत देर तक मैं उसी तरह लेटा रहा......"

"फिर क्या हुआ ?"

"काफी देर बाद एक कौवे ने उस मकान की टूटी छत के ऊपर से कांव-कांव की आवाज निकाली। सुनकर मेरी जान में जान आई......।"

"कैसे ?

"कौवे की आवाज सुन कर सब भूत भाग जाते हैं।"

"तब क्या वे लोग सचमुच भूत थे ?"

"और नहीं तो क्या......।"

"फिर क्या हुआ ?"

"मैं फिर काफी देर तक मुँह बन्द किये लेटा रहा। मेरे साथी अभी तक आराम से खर्राटे भर रहे थे। अन्त में जब मैंने खोलने का साहस किया तब देखता हूँ कि चारों ओर धूप छाई हुई है। कम्बल फेंक कर मैं दरवाजा खोल कर सीधे नीचे वाले कमरे में गया, जहां रात भर महफिल जमी थी। वहां जाकर देखता क्या हूँ कि सारे फर्श पर हड्डी के गोल गोल टुकड़े—ठीक रुपये के बराबर

बिखरे पड़े थे। यह जाहिर था कि जो चांदी के नये रुपये रात बिखेरे गये थे वे भूतों के चले जाने के बाद हड्डी के हो गये थे।"

"फिर क्या हुआ ?"

"मैंने अपने साथियों को जगाया, उन्हें नीचे ले जाकर हड्डी के रुपये दिखाये, और रात का सारा किस्सा सुनाया......"

"फिर क्या हुआ ?"

"सुनकर वे लोग चकित रह गये। हमारे साथ एक पण्डितजी थे। उन्होंने बताया कि जो घड़ा हम लोग उठा लाये थे वह निश्चय ही श्मशान में किसी मुर्दे की प्यासी आत्मा के लिए रक्खा गया घड़ा होगा तभी उस मृतात्मा ने अपने साथियों के साथ इस टूटे मकान में धावा बोला।"

रात काफी हो चुकी थी। शिब्बू भैया उठ खड़े हुए। उनके उठते ही 'अंगीठिया गोष्ठी' समाप्त हुई। हम लोग भी उनके साथ बाहर वाले कमरे तक गये। किसी साहसी लड़के ने विशुद्ध कुतूहलवश एक खिड़की खोली। तलवार से से भी तीखी धार वाले एक झोंके ने सबके मुँह पर थप्पड़ मारा। पर बाहर झांकते ही हवा के तीखे-नुकीले पंजों की सारी चपेट मैं भूल गया। बाहर चारों ओर बिना चाँद की चाँदनी बिछ गई थी। जब हम लोग भीतरी भूतों की कहानी सुन रहे थे तब चुपचाप बरफ गिर रही थी और तब तक पाँच-छः इंच के करीब जम चुकी थी। शिब्बू भैया बाहर जाकर एक अपेक्षाकृत 'शुद्ध स्थान' से बहुत-सी बरफ उठा लाये, जो रूई से भी अधिक नरम मालूम होती थी। हम सबने गुड़ के साथ इसे खाया।

जब शिब्बू भैया चले गये तब मैं बाहर वाले कमरे में बिना कुछ ओढ़े ही चुपचाप बैठ गया और ठंड से तथा भूतों के भय से बरबस किटकिटाते हुए दाँतों की भी परवाह न करके बाहर छुपी अँधेरी रात में मैं चारों ओर फैली हुई बरफ का दृश्य तन्मय होकर देखता रहा। एक अजीव-रहस्यात्मक सफेद रोशनी चारों ओर छिटकी हुई नजर आती थी।

"बाहर ठण्ड लग जायगी। भीतर जाकर लिहाफ ओढ़कर सो रहो।" अम्मां डांट बताती हुई कहती।

"सिर्फ पाँच मिनट के लिए देखने दो अम्मां, बहुत अच्छा लग रहा है!" मैं अनुनय के स्वर में कहता। "बड़ा दुष्ट लड़का है, किसी की नहीं सुनता।" कहती हुई अम्मां भीतर से एक कम्बल लाकर मेरे ऊपर डाल देती।

मुझे वृद्ध हलवाई जोगासाह की याद आ रही है, जिसके हाथ की तैयार हुई विशेष प्रकार की गरम-गरम गुझिया पर लोग मक्खियों की तरह टूट पड़ते थे। अनाज की बालियों की तरह पकने वाले बड़े-बड़े 'बाल', सींग की तरह लपेटी गई पंक्तियों में बन्द 'सिंगौरियां' बासी होने पर अधिक रस व स्वाद देने वाली खस्ता गण्डेदार जलेबियाँ तथा और भी बहुत-सी मिठाइयाँ जिन्हें जोगासाह तैयार करते थे, मुझे बहुत पसन्द थीं। मैं प्रायः सारे भारत में घूम चुका हूँ, पर जोगासाह की बनाई हुई मिठाइयों की तुलना सारे देश की किसी भी दूसरी मिठाई से करना मेरे लिए असम्भव हो जाता है। ३० वर्ष पूर्व अल्मोड़ा छोडने के बाद फिर मिठाई खाने का सुख सदा के लिए जैसे जाता रहा। आज भी कभी-कभी कोई प्रेमी सज्जन जब भूले-भटके अल्मोड़े की मिठाइयाँ चखा जाते हैं तो अपने को सातवें स्वर्ग में अनुभव करने लगता हूँ।

जोगासाह की गुझिया की मीठी याद होली के उन रङ्गीन उत्सवों की लुप्त स्मृति जगा रही है जो उन विशेष गुझियों के बिना फीकी लगने लगती थी। पहाड़ की टोलियों का रूप उन दिनों क्या था, इसकी कल्पना भी आज ठीक से कर सकना सम्भव नहीं है। लगातार छः दिन और छः रातों तक (एकादशी से लेकर होली जलाने के दूसरे दिन तक) सारी जनता भीतर और बाहर से विविध रङ्गों से रंजित होकर जैसे बौरा उठती थी। चारों ओर रंगीनियां और मस्तियों का एक अपूर्व समां बँध जाता था। घर-घर भीतर शास्त्रीय होली का रंग जमता तो बाहर लोग मण्डलियाँ बाँध कर ढोलकियाँ बजाते हुए 'खड़ी होली' के उन्माद भरे राग में मग्न होकर झूमते हुए गाते रहते।

वर्षा और शरद् के बीच वाले काल में लगने वाले पहाड़ी मेलों की याद

आ रही है, जब देहातों के छैल-छबीले और बांके जवान और रंगीली कृषक-युवतियाँ लगातार तीन-तीन रात जगकर मेले के उन्मादक रागरंग के प्रवाह में मुक्त भाव में बहे चलते। हर छैल के गले में एक 'छड़का' (डमरू बँधा रहता) और चारों ओर से डमरुओं का 'द्रां-द्रां डबिक' 'द्रां-द्रा डबिक' की आवाज कानों में बजती रहती। 'आशु कविता' करने वाले युवक-गायकों की मण्डलियाँ अपने प्रेम-भरे पहाड़ी तरानों से सारे पहाड़ी वातावरण के प्राणों की सुप्त रंगीन वेदना को उभार कर एक निराली पुलक भरी व्याकुलता से सारे अंतर्मन को छा देती थी।

'शुद्ध-साहित्य-समिति' नामक पुस्तकालय की याद आ रही है, जहाँ से तरह-तरह की कहानियों की पुस्तकें प्राप्त करके मैं निराली ही तिलस्माती दुनियाँ में विचरता हुआ अपने चारों ओर के वास्तविक जगत् को एकदम भूला हुआ रहता। लगता कि सारा संसार-चक्र विशुद्ध रंगमय और अद्भुत रहस्यमय है, और मनुष्य की रङ्गीन कल्पनाओं का जाल अपने रेशम से भी सुकोमल और चमकीले तानों-बानों से ढककर उसकी मोहकता को और अधिक उजागर करता चला जा रहा है।

उसके बाद जब धीरे-धीरे उस मोहक जाल को कुछ तो अपने ही दुर्निवार मन के चंचल कुतूहल से और कुछ परिस्थितियों के दबाव से छिन्न-भिन्न करता हुआ मैं वास्तविक संसार से आकर टकराया तब कुछ एकदम नये, अकल्पित और अप्रत्याशित अनुभव होने लगे। तब से लेकर आज तक के संघर्षरत जीवन में न जाने कैसे-कैसे विकट-बेमेल और व्यामोहक अनुभव होते चले गये हैं। आज सोचता हूँ कि क्या वास्तविक जीवन के इन सब अनुभवों का मूल्य शैशव के तथाकथित 'अवास्तविक' और रंगीन अनुभवों की अपेक्षा अधिक है? आज मेरा मन इस प्रश्न को लेकर घोर संशयाच्छन्न हो उठा है।

५३ वर्ष की अवस्था तक 'वास्तविक जीवन' के जो विचित्र उलझनों से पूर्ण अनुभव मुझे हुए हैं, उन्होंने मुझे कहाँ लाकर पटका है, इसका ठीक-ठीक निर्धारण कर सकने में मैं अपने को असमर्थ अनुभव कर रहा हूँ। बचपन के निर्द्वन्द्व जीवन के अनुभवों के बीच में मुझे सहज प्रेरणा से लगता था कि जीवन

का एक निजी महत्त्व है, एक विशेष अर्थ है। पर आज जैसे जीवन का कोई अर्थ ही सामने नहीं आता—लगता है जैसे सर्वत्र अनर्थ ही अनर्थ हो रहा है। आज के युग की कूट-राजनैतिक, जड़-वैज्ञानिक और विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों ने जो प्रगति की है उससे ऐसा लगता है जैसे मानव-जीवन की कोई सार्थकता ही आज शेष नहीं रह गई, सब कुछ निरर्थक, भ्रम-जाल से पूर्ण और उद्देश्य-रहित है। यदि सामूहिक जीवन की परिणति इन्हीं दिशाओं में होती है तब तो सचमुच जीवन को युगों तक अन्धकार में चट्टानों पर टकराते हुए अपना सिर पटकते रहना होगा।

पर सम्भव है, सच्चे जीवन को उन्हीं दिशाओं से होकर लम्बी यात्रा करनी है, जिनकी पूर्व छाया मुझे बचपन में दिख चुकी थी। और यह सम्भव है कि वैयक्तिक तथा सामूहिक मानव-मन के भीतर ही भीतर जीवन की वह विशेष धारा शैशव की रंगमयी अनुभूतियों से होकर अन्तर्धारा के रूप में प्रगति करती हुई अज्ञान और अलक्ष्य में निरन्तर आगे को बढ़ती जा रही है, और आज के युग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा वैज्ञानिक प्रसार एक दिन अपना महादम्भ त्याग कर अपने को उसी विशुद्ध आनन्दमयी कल्पना के साथ एकाकार करने के लिए विवश होगा, जिसका अनुभव मुझे बचपन के दिनों में हुआ था। वह विशिष्ट और विशुद्ध जीवन-धारा विकसित होती हुई एक दिन बीसवीं सदी के सारे ज्ञान-विज्ञान के मलबे के ऊपर से बहती उसे अपने महाप्लावन से धोती और बहाती हुई, एक दिन जीवन की सारी व्यर्थता को सफलता में, और निरर्थकता को परिपूर्ण सार्थकता में परिणत करके ही रहेगा, ऐसा विश्वास करने को आज बरबस जी चाह रहा है।

५३ वर्ष समाप्त करने पर मेरे जीवन के अनुभवों की गति मन्द हो चुकी हो या सभी अनुभव पुराने लगते हों, ऐसी बात नहीं है। आज मुझे नित्य ऐसे-ऐसे नये-नये अनुभव होते चले जा रहे हैं, जिनकी कोई कल्पना ही मैं दो-एक वर्ष पूर्व तक नहीं कर सकता था। इन नित्य-नये अनुभवों के आधार पर मानव मन और मानव-जीवन के जो विचित्र रहस्य आज मेरे सामने आ रहे हैं वे मेरे पिछले मनोवैज्ञानिक ज्ञान को बहुत पीछे छोड़ते चले जा रहे हैं। बाहर के वास्त-

विक जीवन के नित-नव परिवर्तित और अन्तर्जीवन को नित-नया-निखार पाती रहने वाली नयी-नयी अनुभूतियाँ आज भी मुझे एक रहस्यमय हिंडोले में झुलाती चली जा रही हैं। ये द्विविध अनुभव और अनुभूतियाँ दो विशिष्ट पृथक् धाराओं में वहती हुई एक समान लक्ष्य-बिन्दु की ओर जैसे निरन्तर बढ़ती चली जा रही हैं। पता नहीं, कितने युगों, कितने जन्म-जन्मातरों के बाद वे एक दूसरे से मिल कर वहाँ आनन्द-सागर में एकाकार हो पायेंगी। कभी एकाकार हो भी पायेंगी या नहीं, यह भी जैसे निश्चित नहीं है।

मुझे तो लगता है कि असंख्य युगों और अगणित जन्मों के अनुभवों के बाद भी—

शेष नहीं होगी यह

मेरे जीवन की क्रीड़ा !

लगता है, जैसे युग-युग की इस अशेष क्रीड़ा के भीतर ही जीवन का महान् लक्ष्य छिपा है, जिसे हम जीवन के बाहर किसी रहस्य में खोजते और व्यर्थ में रहते हैं।

डा० भगवतशरण उपाध्याय

डा० भगवतशरण उपाध्याय हिन्दी के यशस्वी लेखक हैं। वे इतिहास के विद्वान् हैं और इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या में उनका विश्वास है। उन्होंने विविध विषयों पर विपुल ग्रन्थ लिखे हैं। ऐतिहासिक स्मृतियों को कल्पना के सहारे पुनरुज्जीवित करने की उनकी सामर्थ्य विलक्षण है। प्रस्तुत लेख में उन्होंने श्लीमान के ऐतिहासिक अभियान का वर्णन किया है, जिसने होमर के महाकाव्य में वर्णित हेलेन की प्रेम-कहानी और त्राय के विध्वंस की कथा से प्रेरित होकर एक महान् खोज की और पुरातत्व विज्ञान को जन्म दिया।

[१२]

हेलेन की प्रेम-कहानी और त्राय का विध्वंस

—भगवतशरण उपाध्याय

नारी के लिए संसार में युद्ध अनेक हुए हैं और एकाध ने तो सभ्यता का रुख ही बदल दिया है। सीता के लिए राम-रावण युद्ध, द्रौपदी के लिए महाभारत का युद्ध और हेलेन के लिए ग्रीकों और त्रोजनों का युद्ध संसार की ख्यातों में अमर घटनाएं हैं।

यूरोप और एशिया के बीच अनेक बार ऐसी घटनाएं घटीं जिनका सम्बन्ध नारी के हरण से था। ग्रीक पौराणिक कथाओं में इस प्रकार की एक ऐसी घटना का उल्लेख हुआ है जिससे देवराज जीयूस वृषभ का रूप धारण कर लघु-एशिया से राजकुमारी यूरोपा को हर ले गया था। इस प्रकार की घटनाएं अन्तिम अन्धकवि होमर के काव्य-प्रबन्ध 'इलियद' में मुखरित हुई हैं। वह स्पार्ता की रानी हेलेन के लघु-एशिया के त्राय के राजकुमार पेरिस द्वारा हरण और परिणामतः ग्रीकों द्वारा त्राय के विध्वंस की कहानी है, जो इस प्रकार है:—

ईजियन सागर के पार लघु-एशिया के सागर-तट पर अत्यन्त प्राचीन काल में एक नगर था त्राय, जहां प्रियम राज करता था। प्रियम के वीर पुत्रों में सबसे वीरवर हेक्टर था और सबसे रोमैण्टिक पेरिस। पेरिस एक बार घूमता हुआ ग्रीस देश के पश्चिम भाग के स्पार्ता नगर में जा पहुँचा, जहाँ मेनेलाउस राज करता था। मेनेलाउस की रानी हेलेन अपने रूप के जादू के लिए तब के संसार में अनुपम विख्यात थी। पेरिस स्पार्ता के राजा-रानी का अतिथि हुआ। नारी का रूप और पुरुष का पौरुष पास होने पर दोनों एक दूसरे की ओर स्वाभाविक ही आकृष्ट होते हैं, सो जैसे पेरिस भुवनमोहिनी हेलेन पर रीझा, हेलेन भी उसे

देख सुधबुध खो बैठी। दोनों का प्रेम पहले अनजाने फिर लोगों की आँख बचाकर चला और जब दुई का अन्तर बर्दाश्त के बाहर हो गया तब एक दिन अभिन्न होने के लिए दोनों स्पार्ता से भाग निकले। समुन्दर पार पेरिस के पिता प्रियम के नगर त्राय में हेलेन और पेरिस ने शरण ली।

ग्रीकों के राजपरिवार, उनके अनगिन कबीले, हेलेन के इस अपहरण से क्षुब्ध हो उठे। उन्हें लगा जैसे ग्रीक रनिवास की लाज लुट गयी और सारे ग्रीक रजवाड़े, सारे कबीले, हेलेन के पति मेनेलाउस के भाई और आर्गोस के राजा आगामेम्नन के नेतृत्व में त्राय के विध्वस के लिए चल पड़े। मेनेलाउस और अगामेम्नन, आखिलीज, पेत्रोक्लस, उलिसीज और ईनियस ग्रीक ख्यातों के सारे प्रसिद्ध वीर अगामेम्नन के झण्डे के नीचे जा खड़े हुए। हजारों पालोंवाले हजार जहाज त्राय की ओर चल पड़े।

त्राय भी तैयार बैठा था। वह जानता था कि ग्रीकों का दुर्दम्य पौरुष पेरिस के छल का प्रतिकार करेगा और हेलेन के अपहरण का मूल्य उसे रक्त से चुकाना पड़ेगा। प्रियम और उसके बेटे त्राय नगरी के परकोटों की रक्षा करने लगे और प्रियम की बेटी कसेन्द्रा की त्रायविध्वंस-सम्बन्धी भविष्यवाणी के बावजूद, विजय के सपने दहशत के साथ देखने लगे। ग्रीकों के जहाज त्राय के सामने के समुद्र की लहरों पर अपने श्वेत पालों के साथ जब लहराने लगे तब त्राय के प्रहरियों ने नगर के द्वार बन्द कर लिये। ग्रीकों को जब पैठ न मिली तब उन्होंने नगर के चारों ओर के जनपद उजाड़ डाले, नागरिकाओं की अस्मत लूटी, उन्हें अपने शिविरों मे उठा ले गये। उनमें से एक ने अगामेम्नन और आखिलीज दोनों को आकृष्ट किया, पर सेना का अधिपति होने के कारण अगामेम्नन के ही हिस्से वह पड़ी और निराश ईर्ष्या से जला आखिलीज युद्ध से विरत हो अपने शिविर में जा बैठा। ग्रीक वीरों ने बार-बार उसकी मिन्नतें कीं पर आखिलीज अपने शिविर से न निकला, युद्ध में वह शामिल न हुआ।

बूढ़े बाप ने बेटे की लाश के लिए याचना की

तब उसका मित्र पेत्रोक्लस उससे उसका कवच और रथ माँग युद्धभूमि

की ओर चला। आखिलीज का कवच पहने उसी के रथ पर आरूढ़ पेत्रोक्लस के रूप में समरभूमि की ओर जब बढ़ा तब उसे आखिलीज समझ त्राय के वीरों ने राह छोड़ दी। पर प्रियम का वीरपुत्र हेक्तर यह अपमान न सह सका, आगे आया और घमासान युद्ध के बाद उसने पेत्रोक्लस का वध कर दिया। जब मित्र के वध का हाल आखिलीज ने सुना तब दुख और क्रोध से विक्षिप्त वह रथारूढ़ युद्धस्थल पर जा चढ़ा। त्राय की सेना काई की तरह फटती चली गयी और लगा कि जैसे त्राय का विनाश आखिलीज के रूप में सदेह चला आ रहा है। हेक्तर फिर सामने आया पर यमराज सरीखे आखिलीज ने उसे कुचल डाला। तीन बार त्राय नगर के चारों ओर दौड़ते हुए उनका परस्पर युद्ध हुआ और अन्त में विक्रान्त आखिलीज ने हेक्तर को अपने रथ से बांधकर बड़ी नर्बरता से नगर के परकोटे के कई चक्कर किये और उसकी लाश को अपने शिविर में उठा ले गया। राजा प्रियम ने जब अपने बुढ़ापे की ओर इशारा कर आखिलीज को उसके बूढ़े बाप की याद दिला उसके सामने घुटने टेक दिये तब आखिलीज ने उसके बेटे हेक्तर की लाश उसे सौंपी।

इलियद के काव्यप्रबन्ध की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। त्राय की लड़ाई दस साल तक होती रही थी और इलियद में केवल दसवें साल की लड़ाई का ओजस्वी वर्णन हुआ है। आगे की कथा, जो बहुत थोडी रह गयी थी, होमर के दूसरे काव्यप्रबन्ध 'ओदिसी' में कही गयी है। उसके नायक उलिसीज ने लकड़ी का एक ऐसा कपट-अश्व तैयार किया जिसके खोखले उदर में ग्रीक सिपाही छिप कर बैठे। अश्व जब नगर के भीतर पहुँचा तब ग्रीक सैनिकों ने उसके उदर से निकल कर सिंहद्वार खोल दिया और ग्रीकवाहिनी नगर में पिल पड़ी। राजपरिवार नष्ट हो गया, राजा प्रियम का विख्यात 'खजाना' फिर भी ग्रीकों के हाथ न लगा, अपहृत हेलेन के साथ त्राय की राजकन्या कसेन्द्रा भी अगामेम्नन को मिली। हेलेन पति के साथ सालों बाद स्पार्ता पहुँची, त्राय का प्रसिद्ध नगर विध्वस्त हो गया, उसकी दानव-निर्मित चट्टानों की दीवारें जमीन में मिला दी गयीं।

त्राय के विध्वंस की यह कहानी एक सभ्यता के विध्वंस की है। ग्रीस

के दक्षिण मे क्रीत नाम का लम्बा-चौड़ा द्वीप है। उसकी राजधानी कभी क्नोसस थी जिसके भग्नावशेष कुछ दिन हुए खोद निकाले गये हैं। जब मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा, मिस्र और बाबुल की सभ्यताएं प्रौढ़ हो चुकी थीं, तभी क्रीत की सभ्यता का उदय हुआ था। उस द्वीप ने अपना सांस्कृतिक और राजनीतिक अधिकार समूचे ग्रीस और लघु-एशिया पर स्थापित किया था। उस पर ग्रीक पुराणों में वर्णित मिनोस नाम के राजा राज करते थे जिनके नाम पर वह सभ्यता 'मिनोई' कहलायी। उसके दूसरे नाम द्वीप और समीप के सागर के नाम पर क्रमशः 'क्रीती' और 'ईजियाई' पड़े, फिर ग्रीक नगर मिकीनी के नाम पर 'मिकीनी' भी। क्रीत के राजाओं का प्रताप तब इतना प्रखर तपता था कि ग्रीस के रजवाड़े उसे कर दिया करते थे और यह कर भी कुछ साधारण न था। ग्रीक पुराणों में लिखा है कि मिनोस के सांड के लिए ग्रीस सात सुन्दर तरुणियाँ हर नवें साल भेजा करता था। इस अपमान का बदला ग्रीक वीर थीसियस ने मिनोस के सांड का वध करके लिया।

वस्तुतः यह दो विरोधी सभ्यताओं का संघर्ष था। प्राचीन क्रीती सभ्यता और नयी बर्बर ग्रीक सभ्यता का। जब ईस्वी पूर्व चौदहवीं-तेरहवीं सदी में आर्य ग्रीकों के एशियाई कबीलों ने ग्रीस पर आक्रमण किया तब क्रीती सभ्यता के दो प्रमुख सन्तरी उत्तर में शक्तिमान थे स्पार्ता के पास मिकीनी और दर्रेदानियाल के पास लघु-एशिया में सागर-तट पर त्राय। एशियाई ग्रीकों ने मिकीनी और क्रीत पर आते ही कब्जा कर उस प्राचीन सभ्यता को नष्ट कर दिया, जिसका अन्तिम केन्द्र त्राय था। उसे प्रायः दो सौ साल बाद बारहवीं सदी ईस्वी पूर्व के लगभग उन्हीं ग्रीकों ने धूल में मिला दिया। इसी नाश की पद्यबद्ध कहानी अन्धकवि होमर नवीं सदी ईस्वी पूर्व में गाँव-गाँव नगर-नगर तन्त्रीनाद के सहारे गाता फिरा करता था।

नगर जो सोया तो सोता ही रहा...

त्राय का वह नगर अपनी सभ्यता के सन्ध्याकाल में जो सोया तो सदियां प्रायः तीन हजार साल सोता रहा, जब एक दिन एक भावुक जर्मन ने उसकी

कुम्भकर्णी नींद तोड़ दी और उसे खोज निकाला। त्राय की खोज की वह कहानी परी-जगत् की है, जिसके सम्पर्क में पुरातत्व के विज्ञान का जन्म हुआ। त्राय की खोज के नायक श्लीमान की कहानी स्वयं हैरतअंगेज है, गजब की दिलचस्प।

१८२९ का जिक्र है, उत्तरी जर्मन देश में मेकलनवर्ग गाँव में सात वर्ष का एक बालक गाँव के पादरी अपने पिता से कहानी सुन रहा था। कहानी वही त्राय के विध्वंस की थी। इलियद की वह कहानी बालक श्लीमान अनेक बार सुन चुका था पर बार-बार सुन कर भी वह उससे अघा न पाता था। पिता जब कहानी कहने लगता तब बालक की चेष्टाएँ देखने ही लायक होतीं। उसके नथुने फैल जाते, विस्मय से आँखें फैल आतीं, ओठ फड़फड़ा उठते, और जब-जब कहानी खत्म होती वह पूछता, पिता क्या यह सच है? पिता कहता, नहीं बेटे मात्र कवि-कल्पना है कहाँ आखिलीज, कहाँ हेक्तर, कहाँ हेलेन, कहाँ पेरिस, कहाँ त्राय! और बालक बड़ी गम्भीरता, बड़ी दृढ़ता से धीरे-धीरे कहता—ना पिता, कहानी वह सच है, और एक दिन त्राय को मैं खोद निकालूँगा।

और श्लीमान ने बड़े होकर त्राय को ही नहीं, होमर के महाकाव्य इलियद के समरकेन्द्र को ही नहीं, क्रीत सभ्यता को खोद निकाला। पर वह खुदाई श्लीमान के जीवन की कहानी का उपसंहार है। निर्धन परिवार के उस बालक श्लीमान ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने की योजना बनायी। उसने तय किया कि वह धन कमायेगा, इतना धन कि लघु-एशिया के उस मैदान को खरीद कर खोद ले जिसके तले त्राय का वह इतिहासप्रसिद्ध नगर दबा पड़ा था। उसने मोदी की दुकान में नौकरी कर ली जहाँ सुबह के पाँच बजे से गयी रात तक वह काम करता और हेलेन-पेरिस के प्यार से कहीं अधिक आकर्षक त्राय को खोद निकालने के सपने देखता और पेट काट कर एक-एक पैसा जोड़ता जाता। एक रात उसने सोचा—पैसा-पैसा जोड़ते तो सात जनम चुक जायेंगे और त्राय न खुद सकेगा, उसके लिए अमित धन की आवश्यकता है और वह धन मोदी की दुकान न दे सकेगी।

जर्मनी के गाँव-नगर से श्लीमान भागा उत्तर की ओर 'नार्थ-सी' में। वेनेजुएला की ओर जाने वाले जहाज के कप्तान से मिला, केबिन ब्वाय की

नौकरी उससे माँग कर कर ली। पर जहाज पर जो कम्बख्ती का सामना करना पडा तो वह 'नार्थ-सी' की लहरो मे गर्क हो गया। किशोर श्लीमान समुन्दर तैर कर उस द्वीप के किनारे पहुँचा जो हालैण्ड के अधिकार मे था। ऐम्स्टर्डम की एक फर्म मे उसने नौकरी कर ली। अब उसकी योजना आकाश चूम चली, पर उसने उसे कल्पना के पख काट पृथ्वी पर उतारा और प्रायोगिक विधि से उसे साधना शुरू किया। अग्रेजी, डच, स्पेनी, इतावली, फ्रेन्च, ग्रीक आदि छ छ भाषाएँ दो साल के भीतर उसने सीख डालीं। डच फर्म मे वह एकाउन्टेण्ट था और रूस की राजधानी सन्त पीतर्सबर्ग के व्यापारियो से खत-किताबत करनी पडती थी। उसने अपने आप कठिन भाषा रूसी सीखनी शुरू की पर जब उसे कोई बोलने वाला न मिला तब वह जोर-जोर से रूसी भाषा मे लिखी तोलिमेकस की कहानी दुहराने लगा। पडोसी नींद मे खलल पडने से बुरा मान श्लीमान को रोज सुबह धिक्कारते और श्लीमान रोज सुबह उनसे माफी माँगता। जब उसे रूसी बोलने वाला न मिला तब उसने किराये पर एक आदमी रखा, इसलिए कि वह उसके अज्ञात भाषा मे लिखे काव्य के पारायण को सुनने से ऊबे नहीं। कुछ ही दिन बाद नगर के बन्दरगाह मे आये रूसी जहाज के व्यापारियों से वह धारा-प्रवाह रूसी मे बात करने लगा।

अपनी डच फर्म की ओर से श्लीमान कुछ व्यापार सम्बन्धी बाते तय करने सन्त पीतर्सबर्ग पहुँचा, जहाँ स्वय उसने विदेशो से आयात-निर्यात का अपना व्यवसाय शुरू किया। धन उसकी तिजोरियो मे जैसे बरस पडा। साल चुक जाते, पर निरन्तर बरसने धन की राशि न चुकती। श्लीमान अमरीका जा पहुँचा, वहाँ भी उसने दूकानो की एक शृंखला कायम की और अछोर धन पैदा किया। अमरीका का राष्ट्रपति उसके उत्साह से चकित रह गया। फिर तो श्लीमान ने उस त्याग का परिचय दिया, जिसका उदाहरण मानव जाति के इतिहास मे नहीं। उसने अपना सारा व्यवसाय एक दिन सहसा समाप्त कर दिया और अर्जित धनराशि लेकर वह तुर्की की ओर चल पडा। ससार के किसी व्यापारी के पास सफल व्यापार की दूकानो की वह शृंखला होती तो वह स्वर्ग-अपवर्ग के सुख छोड उसकी साधना करता और अनन्त धन, केवल धन के स्वामित्व के लिए अर्जित कर चलता। पर श्लीमान को वह अभीष्ट न था।

उसको अभीष्ट तो त्राय को खोद निकालना था जो उसके जीवन के बालपन की प्रतिज्ञा थी, धनमात्र उसे पूरा करने का जरिया था।

गाँव में होमर के काव्य के तीन नाम

हाइनरिख श्लीमान दरीदानियाल के पास तुर्की सुल्तानों की हुकूमत में बसने वाले लघु-एशिया के मैदान हिसार्लिक जा पहुँचा। राह में ही उसे शुभ शकुन हुआ। इथाका के पहले ग्रीक ग्रामीण परिवार में ही जब वह मिला, गृहस्थ ने अपनी पत्नी का नाम उसे पेनिलोपी और पुत्रों के नाम तेलिमैकस और उलीसीज बताकर उनसे उसका परिचय कराया। तीनों नाम होमर के काव्यों में उसके जाने थे और उसने अपनी भावी सफलता को करतलगत माना।

महीनों श्लीमान त्राय के चतुर्दिक् गाँव-गाँव की खाक छानता रहा और एक दिन उसने समुन्दर से थोड़ी ही दूर पर खड़े एक टीले पर कुदाल चला ही दी। अब तक उस चयालीस साल के श्लीमान ने, हेलेन की-सी ही सुन्दर उन्नीस साल की ग्रीक तरुणी सोफिया से विवाह कर लिया था और दोनों त्राय के पुनरुद्धार के लिए कमर कस टीले पर नित्य चढ़ जाते। सौ मजूर नित्य टीले को खोदते, नित्य साँझ श्लीमान खुदाई में मिली वस्तुओं का ब्यौरा बनाता, देर साँझ इलियद का काव्य जोर-जोर से गाकर ग्रामीणों को सुनाता, देर रात गये पत्नी को प्यार करता और जब कभी सोता भी तब राजा प्रियम के खजाने के सपने देखता, त्राय के दानवों द्वारा निर्मित विशाल चट्टानों के परकोटों के सपने देखता।

और एक दिन उसका वह शैशव और कैशोर का, तरुणाई और प्रौढ़ आयु का सपना सच हो गया, जब श्लीमान ने प्रियम का खजाना, दानवों द्वारा चट्टानों से निर्मित त्राय का परकोटा खोद निकाला। परकोटा, जिसे होमर ने क्लोकोपों के द्वारा बनाया लिखा है। दिन चढ़ चला था, श्लीमान बीबी सोफिया के साथ टीले की गहराई में पुरानी खड़ी बीते जगत् की दीवारों की नींव पर पड़ती कुदालों को देख रहा था कि सहसा बिजली छू जाने की-सी उसमें हलचल हुई और उसने बीबी से कहा—'सोफिया, चिल्लाकर मजूरों का काम रोक

दे, कह दे कि सहसा याद आयी कि आज मेरे जन्म का दिन है। कह दे, उसकी खुशी में इन्हें मजूरी समूचे दिन की मिलेगी।'

सोफिया का हुक्म सुन मजूर खुश-खुश काम से अपने घरों को वापस चले गये और तब श्लीमान खुदाई की गहराइयों में जा पहुँचा। कुदालें हटा, छुरी से काम लेना शुरू किया। खतरे में, यह जानते हुए भी कि दानवों की बनायी त्राय के महलों की, उनके परकोटों की चट्टानी दीवार अगर गिरी तो उसकी हड्डी-पसली का भी कहीं पता न चलेगा। पर वह निरन्तर घण्टों छुरी चलाता रहा। प्रियम का सोना दोनों हाथों निकालता गया और जब सोने के कर्णफूलों का जोड़ा मिला तब उसने सोफिया के कानों पर उन्हें धर उसे पुकारा 'प्यारी हेलेन।'

श्लीमान ने जो खोदा था, प्रियम का खजाना उनमें नितान्त गौण था। यद्यपि ठोस सोने के छह हार, दो सुराहियां, दो ताज, साठ कर्णफूल और ८७०० स्वर्णालंकरण कुछ कम न थे। पर जो उसने अपने समकालीन सन्दिग्ध संसार को भेंट किया, वह न केवल जाने त्राय का नगर था बल्कि उसमें भी सहस्राब्दियों पुरानी अनजानी मिनोई सभ्यता के उत्तुंग शिखर थे, जिनका मूल केन्द्र क्रीत का टापू रहा था। त्राय तो खुदाई की निचली तीसरी ही मंजिल पर मिल गया, पर साथ ही उसके नीचे एक के ऊपर एक बसी छह-छह नगरियाँ निकल आयीं, कुल नौ।

संसार के पुराविद् विद्वान जो यूरोप में उसकी मूर्खता पर हँस रहे थे, जो होमर के काव्यप्रबन्ध को कपोलकल्पना मानते थे सहसा सन्नाटे में आ गये। श्लीमान की झोपड़ी सोने और प्राचीन वस्तुओं से भरी थी! उसे लेकर निकल भागना आसान न था। पर जिसने सहस्राब्दियों से खोई सभ्यता के दर्शन आसान कर दिये उनके लिए तुर्कों के पहरे से निकल भागना क्या असम्भव था? धीरे-धीरे उसने छिपे तौर से सोफिया के सम्बन्धियों द्वारा ग्रीस को सरबस भेज दिया, फिर एक दिन बीबी को लिये वह स्वयं ग्रीस जा पहुँचा। प्रायः उसी भांति जिस भांति देवराज जीयूस कभी एशिया से यूरोपा को ले भागा था, जैसे त्राय के प्रियम का बेटा पेरिस स्पार्ता से मेनेलाउस की हेलेन को ले भागा था।

कमला रत्नम्

श्रीमती कमला रत्नम् अहिन्दी-भाषी हिन्दी-लेखिका हैं । अपने राजदूत पति के साथ रहकर उन्होंने देश-देश के इन्सानों और उनकी सभ्यता को तो निकट से देखा ही है, उन्हें विश्व के महान् व्यक्तियों से मिलने का अवसर भी मिलता रहा है। अपने इन अनुभवों को अनुबद्ध कर उन्होंने हिन्दी की सेवा की है। चिली में उनको डा० राबर्ट आपेन हाइमर से भेंट करने का अवसर मिला। डा० हाइमर प्रथम परमाणु-बम के अन्तिम परीक्षण के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी थे , पर वे उसके किसी राष्ट्र पर प्रयोग के पक्षपाती नहीं थे। डा० हाइमर संस्कृत साहित्य के भी ज्ञाता हैं और संस्कृत उन्होंने स्वाध्याय से सीखी है। डा० हाइमर का कहना है कि परमाणु-बमों को नष्ट करने से परमाणु-विद्या के ज्ञान से हम कभी मुक्ति नहीं पा सकते, अतः यदि हम मानव जाति की रक्षा चाहते हैं तो इस ज्ञान से अपने उचित सम्बन्ध का समझौता कर लेना चाहिए । विज्ञान भिन्न देशों और भिन्न सभ्यताओं वाले लोगों को निकट लाने में सबसे अधिक सहायक सिद्ध होगा। यह दार्शनिक-वैज्ञानिक लेख वार्ता-लेखन का अच्छा उदाहरण है।

[१३]

परमाणु-बम और गीता

—कमला रत्नम्

यह भाग्य की ही बात थी कि शान्तिनगो में हमारे पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद डा० राबर्ट आपेन हाइमर ने अपनी पत्नी कैथराइन के साथ चिनि विश्वविद्यालय की यात्रा करने का निश्चय किया। डा० आपेन हाइमर में हमारी दिलचस्पी पुरानी है। इनका सूत्रपात तब हुआ था, जब मेरे पति जापान में थे और मुझे टोकियो जाना पड़ा था तथा वहाँ उनके एक मित्र से भेंट हुई थी। यह मित्र एक अमेरिकी वैज्ञानिक था, जिसने आपेन हाइमर के नीचे काम किया था। उन जमाने में हरेक बातचीत घूम-फिर कर एक ही विषय पर आ जाती थी और वह था हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु-बम का प्रयोग। हमारे मनों को यह विचार बहुत दुःख देता था कि अमेरिका जैसे प्रजातन्त्र प्रिय राष्ट्र ने इस संहारक अस्त्र का प्रथम प्रयोग एशिया के एक राष्ट्र पर क्यों किया? इस अमेरिकी वैज्ञानिक ने हमें बताया था कि यद्यपि डा० आपेन हाइमर प्रथम परमाणु-बम के अन्तिम परीक्षण के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी थे फिर भी यदि उन से पूछा जाता तो वह किसी भी राष्ट्र पर उसके प्रयोग किये जाने में सहमत न होते। परीक्षा के समय जब उन्होंने अपने हाथों से जन्मे अस्त्र की भीषण संहार-शक्ति देखी तो अनायास उनके मुँह से ये पुरातन शब्द निकल पड़े थे—

"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः।"

कालचक्र में ऐसे अवसर कम ही आए हैं, जब मनुष्य ने समय से ऐसा तादात्म्य अनुभव किया हो अथवा इन शब्दों की पुनरावृत्ति अधिक सारगर्भित और गंभीर संदर्भ में की गई हो। परन्तु अब जब विज्ञान के इस आचार्य से हमारी भेंट हो चुकी है और इनकी के स्वच्छ नीली आंखों के कांच से हम इनकी आत्मा की झलक देख चुके हैं तो यह कहना कठिन है कि श्रीमद्भगवद्गीता के

उपर्युक्त उद्धरण के द्वितीयार्द्ध 'लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः' से भी यदि ये सहमत हो जाते तो क्या इनकी आत्मा को शान्ति मिलती, क्योंकि यदि काल स्वयं साकार होकर पृथ्वी पर प्रकट हो जाए तो उसका कर्त्ता संसार की खैर कैसे मना सकता है ?

वर्तमान काल में डा० राबर्ट आपेन हाइमर भौतिक (फिजिक्स) के शोध कार्य में संलग्न हैं और प्रिन्स्टन विश्वविद्यालय के उच्च-अध्ययन-संस्थान के संचालक हैं। ५८ वर्ष की अवस्था है और घर में दो किशोरवय सन्तान हैं। संस्कृत के अध्ययन के सम्बन्ध में, उन्होंने बताया कि बचपन में उनको शिक्षा-दीक्षा लगभग वैसी ही हुई थी, जैसी किसी साधारण बालक की होती है, परन्तु उन्होंने ग्रीक अवश्य पढ़ी थी, परन्तु संस्कृत उस सबसे भिन्न थी। यदि कोई ध्यान लगा कर दो वर्ष भी संस्कृत पढ़ ले तो उसे उसके परिश्रम का भरपूर फल मिल जाता है और फिर संस्कृत साहित्य का अक्षय भण्डार उसके सामने खुल जाता है। उन्होंने कैलिफोर्निया निवासी अपने मित्र आर्थर राइडर से संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। आर्थर राइडर अमेरिका में संस्कृत के अच्छे विद्वान और अनुवादक माने जाते हैं। उन्होंने मेघदूत, पंचतन्त्र और गीता का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में कहा—"मेरे विचार में इनका पंचतन्त्र का अनुवाद सबसे अच्छा हुआ है। ये तीनों पुस्तकें मैंने इनसे पढ़ीं, उसके उपरान्त उन्होंने भर्तृहरि के तीनों शतक (भर्तृहरि के प्रति अतिशय आदर प्रकट करने के लिए उन्होंने अंग्रेजी में 'सेन्चुरी शब्द का प्रयोग किया) मेरे हाथ में देकर मुझे विदा किया।"

"फिर क्या हुआ ? आपने उन्हें पढ़ा ?"

"हाँ मैंने भर्तृहरि को आद्योपान्त पढ़ा और बहुत सुन्दर पाया। वैराग्य-शतक मुझे सबसे प्रिय है। इतिहास में विरलता से ही ऐसे ग्रन्थ पाये जाते हैं।"

अपने घर उनके पधारने की स्मृति में हमने उन्हें भारतीय चित्रकला का एक अलबम भेंट किया था। उनके संस्कृत-ज्ञान से परिचित होने के कारण जान-बूझ कर इसका समर्पण हमने संस्कृत में लिखा था। पुस्तक हाथ में लेते

ही उन्होंने बिना कठिनाई के भाषा का स्वाद लेते हुए लेख को पढ़ लिया। बात-चीत का मोड़ अब रूस की ओर था और हम उस समय की याद कर रहे थे, जो हमने रूस में बिताया था।

"आप लोग वहा कब थे?" आचार्य ने पूछा।

"१९५५ से १९५७ के अन्त तक।"

"वे उस वसन्त के दिन थें, जब सोवियत-संघ की जमी हुई बर्फ पिघलने लगी थी।" उनका संकेत स्तालिन के जमाने की कड़ी शासन-नीति की ओर था।

रूस में हमारी जान-पहचान अमेरिकी राजदूत चार्ल्स बोहलेन से थी। वह बड़े हँसमुख व्यक्ति थे और स्थानीय राजनीति और राजनीतिज्ञों के बारे में बड़े किस्से सुनाया करते थे। हमने ये किस्से डा० आपेन हाइमर और उनकी पत्नी को भी सुनाए और उन्होंने इनका खूब रस लिया। उन्होंने कहा—"बोह-लेन रूसी भाषा अच्छी तरह जानता है। पोट्सडाम कान्फ्रेन्स में जब ट्रूमैन ने स्तालिन से बातचीत की थी, तब बोहलेन ही अधिकारी दुभाषिया था। इसी समय परमाणु-बम के प्रथम सफल विस्फोट की सूचना स्तालिन को पहुँचाई गई थी। खेद का विषय है कि इस महत्वपूर्ण बातचीत को प्रामाणिक रूप से लिपि-बद्ध नहीं किया गया।" इस विषय में हमारे तीव्र कुतूहल से परास्त होते हुए आचार्य ने फिर कहा—"परमाणु-बम के प्रथम परीक्षण का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर था और वह १६ जुलाई १९४५ को सफलतापूर्वक कार्यान्वित हुआ। इसका समाचार उसी समय गुप्त संकेतों द्वारा ट्रूमैन के पास पोट्सडाम भेज दिया गया। इस महत्वपूर्ण सूचना को स्तालिन तक पहुँचाते समय ट्रूमैन एक विशेष लापरवाही का अभिनय करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने बोहलेन का साथ नहीं लिया और बातों-बातों में स्वयं ही स्तालिन से कह दिया कि हमारे पास एक महाशक्तिशाली नवीन अस्त्र है, जिसे हम जापान के विरुद्ध प्रयोग करने का विचार कर रहे है। स्तालिन ने उत्तर दिया—"मैं आशा करता हूँ आप इसका प्रयोग सफलतापूर्वक करेंगे।" इस प्रकार अत्यन्त सरलता से और संक्षेप में

मनुष्य के नवीनतम ज्ञान के बारे में पहली बातचीत समाप्त हुई, जो ज्ञान के क्षेत्र में उसकी समस्त पूर्व उपलब्धियों से कहीं अधिक महान्, भीषण और विकराल सिद्ध हुई। इतना भयानक ज्ञान भगवान ने मनुष्य के हाथों में इससे पहले नहीं दिया था। ज्ञात होता है कि परमाणु-बम की परिचालनप्रक्रिया के समान इसके ज्ञान के भीतर भी वही शक्तिशाली शृंखलाप्रतिक्रिया (चेनरिएक्शन) छिपी हुई है, जिसने आज एक महान् दानव का रूप धारण कर लिया है, और जिसकी घनी काली छाया ने अब मेगाटन-बम के रूप में मानवता को ग्रसित कर लिया है। डा० ओपेन हाइमर और विचार और चिन्ता की गहरी रेखाओं से खुदे हुए चेहरे वाली उनकी पत्नी, दोनों की यही इच्छा है कि यह छाया कभी भी यथार्थ का कलेवर न धारण करे। चिलि विश्वविद्यालय के सम्मुख दिये गये अपने भाषण में उन्होंने कहा—"परमाणु-बम के बहिष्कार के विषय में आजकल बहुत कुछ कहा जा रहा है। बहिष्कार की बात मुझे पसन्द भी है, परन्तु हमें अपने आपको धोखा नहीं देना चाहिए। चाहे हम संसार के समस्त बमों को लेकर समुद्र में डुबो दें, फिर भी पृथ्वी कभी पूर्ववत् नहीं होगी, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि से उनको बनाने की विद्या को मिटाया नहीं जा सकता।" यह सच है कि विस्मरणशक्ति के वरदान के कारण हम बहुत-से दुःखों से मुक्ति पा जाते हैं, परन्तु परमाणु-विद्या के ज्ञान से हम कभी मुक्ति नहीं पा सकते, अतः इस सूक्ष्म उपग्रह पर यदि हम अपनी मानवजाति की रक्षा करना चाहते हैं तो हमें इस ज्ञान से अपने उचित सम्बन्ध का समझौता कर लेना चाहिए। इसी बात को आचार्य ने अधिक दार्शनिक रूप देते हुए कहा--"इस ज्ञान का अस्तित्व है, और इससे प्रभावित नये युग में जीवित रहने की हम जो भी योजना बनाएगे, उसे इसके सर्वव्यापी यथार्थ अस्तित्व का ध्यान रखना पड़ेगा, और यह भी कि इस तथ्य को बदला नहीं जा सकता।" विज्ञान यहां गीता के अध्यात्मचिन्तन के समान सत्य और असंन्दिग्ध है 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः।' (मैं काल हूँ। लोगों के क्षय के लिए प्रवृद्ध हुआ हूँ ! और निश्चय ही इस क्षण उनके विनाश में लगा हूँ।) और इन शब्दों के मूल में जो चेतावनी और शासन है उसकी उपेक्षा भी नहीं की गई है। चिलि में डा० ओपेन हाइमर के जितने भी भाषण हुए उन सबका एक ही सार है कि विज्ञान सम्पूर्ण मानवता के लिए एक भाषा

इस समय मुझे संयोगवश डा० ओपेनहाइमर का वह भाषण याद आ गया, जो उन्होंने कुछ समय हुए बर्लिन में दिया था और जिसका तात्पर्य यह प्रतीत होता था कि वर्तमान काल में भारतीय दर्शन उन समस्याओं का उत्तर देने में असमर्थ है, जो आज संसार के सम्मुख है। मेरा प्रश्न था—"उस समय क्या आप यह कहना चाहते थे कि भारतीय दर्शन पुराना पड़ चुका है और अब वह देशकाल के अन्तर को भेद कर शाश्वत सत्य का दावा नहीं कर सकता ?" मैंने देखा कि आचार्य विचारमग्न हो गए थे, उनके मस्तिष्क का आवरण हट गया था और मैं उसके भीतर के यन्त्रों की सूक्ष्म परिचालन-प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म रूप से देख रही थी। धीरे-धीरे उनकी आँखें फिर जीवित हो उठीं और वह कहने लगे—"नहीं मेरा मतलब यह नहीं था। जो कुछ मैंने कहा था उसका तात्पर्य यह था कि गीता का सन्देश और दर्शन बुद्धि के सहारे चलता है, इसलिए उसमें अन्तर्विरोध उत्पन्न नहीं होता। जब कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते है, तब उनका उद्देश्य अर्जुन की आध्यात्मिक उन्नति है, उसकी आत्मा का उद्धार करना है, उसकी उन समस्याओं का हल ढूँढना है, जो पृथ्वी के इस गोले को नहीं छूती। परन्तु आत्मा के अलावा अर्जुन के शरीर भी है, संसार में हमारा जीवन आध्यात्मिक भी है और आधिभौतिक भी और जीवन केवल बुद्धि और तर्क का ही आधार लेकर नहीं चलता, निरन्तर विरोध की धारा में ही हमें उसका यथार्थ चित्रण मिलता है। यूरोप में भारतीय दर्शन हमें सम्पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर पाता, क्योंकि हमे माटी की इस पृथ्वी पर भी मनुष्य के सुख और कल्याण का ध्यान रखना पड़ता है। क्रिश्चियन विचारधारा तर्क और बुद्धि पर आधारित नहीं है, इसलिए यूरोप की आवश्यकताओं के समाधान के लिए वह अधिक उपयुक्त है।" चिलि विश्वविद्यालय के सम्मुख भाषण देते हुए आचार्य ने उन प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक परम्परा का उल्लेख किया था, जो मध्य-युग में यूरोप की सांस्कृतिक जागृति में सहायक हुई थी। विज्ञान के जन्म को उन्होंने प्रगति की एक भावना का अनिवार्य सहयोगी बताया। उनके मतानुसार प्रगति की यह भावना चीन की सभ्यता में उपस्थित नहीं थी तथा भारतीय सभ्यता में उसका सर्वथा अभाव था, और भूमध्यसागर की ग्रेको-रोमन सभ्यता

का आविष्कार करने में हमारी सहायता कर सकता है। किसी भी तरह की जानकारी का—विशेषकर विज्ञान की जानकारी का जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण, विचारों और दर्शन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, इसलिए विज्ञान की सहायता से संसार को एक सूत्र में बांधने की कल्पना असम्भव नहीं। आचार्य ने कहा—"आज भौतिकशास्त्र के विद्वान मिल कर उन सभी देशों में काम कर रहे हैं जिनकी सभ्यता भिन्न है, राजनीति भिन्न है, धार्मिक विचार भिन्न है, यहाँ तक कि जो कूटनीति की चालों द्वारा एक-दूसरे का गला काटने के लिए तत्पर हैं, तो क्या यह संसार को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास नहीं है?" अन्तरिक्ष यात्री यूरी गगारिन का विभिन्न देशों में पर्यटन तथा मेजर ग्लेन और तीतोव के आकाश-अनुसन्धान में साथ काम करने के गम्भीर आश्वासन इस दिशा में अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।"

भारतवर्ष की तटस्थ विदेश राजनीति की ओर मुड़ते हुए मेरे पति ने आश्चर्य से इस विषय में उनका मन्तव्य जानने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने उत्तर दिया—"यह तो वही नीति है, जिसका अनुसरण मेरे देश में लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक होता रहा, और जब मैं छोटा बच्चा था तो मुझे बताया गया था कि यह बड़ी बुद्धिमानी की नीति थी।" उनकी बात का अनुमोदन करते हुए मैंने कहा—"क्या आप नहीं सोचते कि हमारी तटस्थ-नीति और गीता की शिक्षा में कार्य-कारण सम्बन्ध है—कर्मण्येवाधिकारस्ते ''' ''' अर्थात् सीधी रेखा पर चलते जाओ, इधर-उधर स्खलित मत होओ। सीधी रेखाएं भी भिन्न दिशाओं में जा सकती हैं और उनकी स्नेह-भरी नीली आँखें एकाएक जीवित हो उठीं; उनकी चमक से मुझे भास हुआ कि विज्ञान के एक तपस्वी के समक्ष बैठ कर सत्य के अनन्त पहलुओं को एक बार में देख पाना कितना कठिन है। अन्ततोगत्वा हम ग्रहण और परिहार करने पर बाध्य हो जाते हैं; जीवन की उलझी हुई धमनियों में अपना स्थान ढूंढने का प्रयास हमें ऐसा करने पर बाध्य करता है। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ ये गति-विधियाँ दिन पर दिन और भी उलझती जा रही हैं; यहां तक कि अब हम अपने आपको विज्ञान तथा मशीनरी द्वारा बुने हुए महीन लौहजाल में पूरी तरह से फँसा हुआ पाते हैं।

इस समय मुझे संयोगवश डा० आपेनहाइमर का वह भाषण याद आ गया, जो उन्होंने कुछ समय हुए बर्लिन में दिया था और जिसका तात्पर्य यह प्रतीत होता था कि वर्तमान काल में भारतीय दर्शन उन समस्याओं का उत्तर देने में असमर्थ है, जो आज संसार के सम्मुख हैं। मेरा प्रश्न था—"उस समय क्या आप यह कहना चाहते थे कि भारतीय दर्शन पुराना पड़ चुका है और अब वह देशकाल के अन्तर को भेद कर शाश्वत सत्य का दावा नहीं कर सकता ?" मैंने देखा कि आचार्य विचारमग्न हो गए थे, उनके मस्तिष्क का आवरण हट गया था और मैं उसके भीतर के यन्त्रों की सूक्ष्म परिचालन-प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म रूप से देख रही थी। धीरे-धीरे उनकी आँखें फिर जीवित हो उठीं और वह कहने लगे—"नहीं मेरा मतलब यह नहीं था। जो कुछ मैंने कहा था उसका तात्पर्य यह था कि गीता का सन्देश और दर्शन बुद्धि के सहारे चलता है, इसलिए उसमें अन्तर्विरोध उत्पन्न नहीं होता। जब कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं, तब उनका उद्देश्य अर्जुन की आध्यात्मिक उन्नति है, उसकी आत्मा का उद्धार करना है, उसकी उन समस्याओं का हल ढूँढना है, जो पृथ्वी के इस गोले को नहीं छूती। परन्तु आत्मा के अलावा अर्जुन के शरीर भी है, संसार में हमारा जीवन आध्यात्मिक भी है और आधिभौतिक भी और जीवन केवल बुद्धि और तर्क का ही आधार लेकर नहीं चलता, निरन्तर विरोध की धारा में ही हमें उसका यथार्थ चित्रण मिलता है। यूरोप में भारतीय दर्शन हमें सम्पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर पाता, क्योंकि हमें माटी की इस पृथ्वी पर भी मनुष्य के सुख और कल्याण का ध्यान रखना पड़ता है। क्रिश्चियन विचारधारा तर्क और बुद्धि पर आधारित नहीं है, इसलिए यूरोप की आवश्यकताओं के समाधान के लिए वह अधिक उपयुक्त है।" चिलि विश्वविद्यालय के सम्मुख भाषण देते हुए आचार्य ने उन प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक परम्परा का उल्लेख किया था, जो मध्य-युग में यूरोप की सांस्कृतिक जागृति में सहायक हुई थीं। विज्ञान के जन्म को उन्होंने प्रगति की एक भावना का अनिवार्य सहयोगी बताया। उनके मतानुसार प्रगति की यह भावना चीन की सभ्यता में उपस्थित नहीं थी तथा भारतीय सभ्यता में उसका सर्वथा अभाव था, और भूमध्यसागर की ग्रीको-रोमन सभ्यता

मे भी इसका उद्‌भव नहीं हुआ था। उन्होंने बताया कि प्रगति की इस भावना का सम्बन्ध मनुष्य की विशेष अवस्थिति मे है और इसे क्रिश्चियन धर्म की प्रसिद्ध द्विरुक्ति (dichotomy) के दूसरे खण्ड के शब्दो 'श्रद्धा और कर्म' (फेथ एण्ड वर्क्स) द्वारा अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है। अर्थात् मनुष्य की अवस्थिति, परिस्थिति को निरन्तर सुधारने की भावना, मानवसभ्यता की सार्थकता की वह भावना जिसके कारण वह हमारा उत्तरदायित्व बन जाती है और हम सब उसके प्रति और मनुष्य के प्रति कर्तव्य पराधीन हो जाते है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य का कथन ठीक था, जब उन्होंने कहा था कि विज्ञान का जन्म ,स्वतन्त्रता की भाई-चारे की और वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के साथ हुआ था. और उससे सम्बन्धित जो राजनीतिक कल्पना है, उसके उन सब चेतनाओ का समावेश है, जिनके लिए आजकल प्रजातन्त्र शब्द का प्रयोग न्यायोचित और उपयुक्त है। आज हमारे सामने जो भी समस्याए है, वे विज्ञान की वृद्धि की समस्याएँ है, मनुष्य के तकनीकी-ज्ञान की समस्याएँ है, अपने विस्तार मे भीषण और बुद्धि-गम्य वे स्वय विज्ञान के विराट् की समस्याए है और उनका सम्बन्ध उस पृथ्वी से है, जिसकी जनसख्या तीन अरब है, उनका सम्बन्ध एक ऐसे भीमकाय और बृहत् समाज से है, जिसकी सुव्यवस्था के लिए मनुष्य अभी तक किसी संस्था का आविष्कार नहीं कर पाया है।" यह मनन का विषय है कि जेट-वेग और मेगाटन-बम के युग मे श्रीकृष्ण अर्जुन को कौन-सा उपदेश देते ?

समय की गति स्थिर नहीं थी और बातचीत का घण्टा पूरा होने को था। आचार्य अब पुरानी बातों को याद कर रहे थे--"मै आपके बहुत-से देश-वासियो को जानता हूं; पर उनमे से बहुत कम ऐसे है जो सस्कृत जानते है। चावला से मेरा परिचय है। हरिश्चन्द्र को मै जानता हूँ, जिनका नाम ससार के शीर्षस्थ गणितज्ञो मे लिया जाता है और हाँ चन्द्रशेखरन को भी मै जानता हूँ, उनके नाम का अर्थ है जिसके मस्तक पर चन्द्रमा सुशोभित है!" है न ?" और जब हम सबसे प्रशसासूचक नेत्रो से सिर हिलाया तो आचार्य ने भर्तृहरि का

निम्नलिखित श्लोक सुनाते हुए कहा—"मैं नहीं जानता कि किसी ने हमारी वर्तमान दुर्दशा का इससे अच्छा चित्रण किया है-

"महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे,
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे,
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे !"

भाषानुवाद में इसका तात्पर्य है—

"चाहे मेरी श्रद्धा महेश्वर में हो अथवा सब जगतों के अधीश्वर जगदीश्वर में (जगदीश्वर यदि समस्त जगत् के स्वामी है तो उनकी तुलना में महेश्वर उसके केवल एक अंश के ही स्वामी हैं !) चाहे मैं उस ईश्वर के सामने सिर झुकाऊँ, जो जनार्दन है (जन का अर्दन अर्थात् मनुष्यों के हृदयों को मथ कर संतप्त करने वाला है) अथवा उसके जो जगत् का अन्तरात्मा है अर्थात् जनमानस को शान्ति से आप्लावित करता है; इस बुद्धिप्रेरित वस्तुभेद से वास्तव में मेरा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है, क्योंकि मेरी तरुणेन्दुशेखर, एक कलामात्र चन्द्रमा से सुशोभित मस्तक वाले भगवान शंकर में एकनिष्ठ भक्ति है ।

विश्वकल्याण में लगभग ऐसी ही एकान्तनिष्ठा वाली कोई बुद्धि हमारे उद्धार कर सकती है ।

उठने से पहले डा० आपेन हाइमर ने नेहरू के विषय में पूछा और बोले- "आप कब उनसे मिले थे ?" मेरे पति ने उत्तर दिया कि दिसम्बर ६१ में स्वदेश छोड़ने से पहले वह प्रधान मंत्री से मिले थे और आजकल वह काश्मीर में विश्राम कर रहे है । उत्तर में आचार्य ने स्मितिपूर्वक कहा-यह तो बहुत पुरानी बात हो गई । अब हम कश्मीर को नया मेघदूत भेज सकते हैं ।"

कुमार कश्यप

कुमार कश्यप ने संकलित निबन्ध में उन वैज्ञानिक सिद्धान्तों और योजनाओं पर प्रकाश डाला है, जिनसे मनुष्य अनन्त शून्य की अनिश्चित राहों का पथिक बनने में समर्थ होगा।

[१४] अनन्त शून्य की अनिश्चित राहें

—कुमार कश्यप

मानव, इस धरती का विजेता—आज एक ऐसे अज्ञात 'महासागर' के तट पर आ खड़ा हुआ है, जिसका विस्तार वस्तुतः असीमित और गहराई सचमुच अथाह है। यह महान 'सागर' जिसके आगे सब पार्थिव समुद्रों की विशालता नगण्य होकर रह गयी है, विश्व-ब्रह्मांड के अनन्त विस्तार का महाशून्य है। यह जैसे परिमाण की दृष्टि से अकल्पनीय है, वैसे ही इसमें 'नौ-परिचालन' की समस्याएँ भी दुर्भाव्य हैं।

अन्तरिक्ष-महासागर में नौ-चालन की समस्या, अर्थात् महाशून्य के अदृश्य पथों पर वाहन-नियन्त्रण और मार्ग-निर्देशन की समस्या, अपने रूप, नवीनता और जटिलता की दृष्टि से एक रोमांचकारी समस्या है। यह जितनी असाधारण है, उतना ही रोचक उत्साह-प्रद और आनन्द-दायक है इसका विवेचन और समाधान।

इन समस्याओं के पूर्ण समाधान के बिना पार्थिव मानव के अन्तरिक्ष में पदार्पण करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

शून्य में वाहन-परिचालन की समस्या जल, थल और वायुमंडल मे चलने की समस्या से बिल्कुल भिन्न है। वास्तव में यातायात के सामान्य अर्थों से सम्बन्धित कोई भी नियम अन्तरिक्षीय परिस्थितियों पर लागू नहीं होता। अन्तरिक्ष में, न केवल आयामों की दृष्टि से ही देश की प्रकृति भिन्न है, बल्कि उसमें चलने की प्रक्रिया की गति के परिचित अर्थों से मेल नहीं खाती।

मार्ग-निर्धारण की समस्या

मार्ग-निर्धारण की समस्या तो और भी विचित्र है। पृथ्वी पर दो

स्थानो के बीच एक बार जो मार्ग निर्धारित हो जाए, वह यातायात का एक स्थायी सा साधन बन जाता है। परन्तु अन्तरिक्षीय क्षेत्र मे जब हम 'मार्ग' की चर्चा करते है, तो उससे हमारा अभिप्राय कदापि यह नहीं हो सकना कि विभिन्न ग्रहो के बीच निश्चित रेखाए खींचकर उन पर मील-पत्थर और अन्य संकेतपट आदि लगा दें कि लीजिए, अब आप निश्चिन्त होकर इन सुविधाओ का उपयोग करें ! दुर्भाग्यवश बात इतनी सरल नहीं है। प्रथम तो इस क्षेत्र में 'मार्ग' जो कुछ भी होगा, वह कभी अपने स्थान पर स्थिर नहीं रहेगा, बल्कि अपने आरम्भिक और अन्तिम ठिकानो, अर्थात् पृथ्वी और लक्ष्य ग्रह के साथ-साथ सौर-मण्डल मे, तथा सौर-मण्डल के साथ-साथ नक्षत्र-मण्डल मे, सतत चलायमान रहेगा। दूसरे स्वयं उसकी प्रकृति, परिमाण और आकार आदि पर सब कुछ निर्भर करेगा प्रत्येक यात्रा विशेष की अपनी विशेषताओ पर, अर्थात् वाहन की शक्ति, भार, आरम्भिक गति, दिशा और उपलब्ध समय आदि, तथा उन गुरुत्व-क्षेत्रों की प्रबलता पर, जिनमें वह अवस्थित होगा।

वास्तव में अन्तरिक्ष-यात्रा की सारी भिन्नता और विचित्रता का मूलाधार उसकी यही विशेषता है कि वह गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्रों द्वारा नियन्त्रित होती है, अर्थात् अन्तरिक्षयान को पूरी उडान के दौरान में उसके इंजनों को केवल कुछ प्राथमिक और अन्तिम क्षणो मे, तथा बीच में, यदि आवश्यकता हो तो, दिशा-परिवर्तन के लिए ही चलाना पडता है। शेष प्रायः सारी ही यात्रा बन्द इंजिनों के साथ अपने आप ही सम्पन्न होती है। अवश्य इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अन्तरिक्ष-प्रवास का यह मूल-मन्त्र अब प्रायः सर्वविदित हो चुका है। यहा केवल इतनी ही बात की पुनरावृत्ति पर्याप्त है कि अन्तरिक्ष वाहन प्रतिरोधविहीन शून्य मे पहुँचकर अपेक्षित गति प्राप्त कर लेने के बाद एक साधारण खपिंड के ही सदृश हो जाता है। और वहीं से उसकी आगामी गति, दिशा और पथ का निर्धारण किसी मानवी योजना से नहीं, अपितु उन गुरुत्व-क्षेत्रों द्वारा होने लगता है, जिनमें वह गतिमान होता है।

खगोलिक यांत्रिकी के अनुसार खपिंडों की गति का पथ (परिक्रमण-पथ अथवा कक्षा) कुछ विशेष प्रकार की वक्र रेखाओं के अनुरूप ही हो सकता है।

वृत्त, दीर्घवृत्त, परवलय और अतिपरवलय आदि ऐसी ही वक्र रेखाएँ हैं। अब मूल सिद्धान्त यह है कि कोई विशेष पथ किस विशेष रेखारूप का अनुकरण करेगा, यह निर्भर करता है विद्यमान गुरुत्व-क्षेत्र के बल और उसके प्रभावांतर्गत् चलने वाली वस्तु के गति-वेग पर।

वे विभिन्न गति-वेग उनके नाम और उनसे चलनेवाली वस्तुओं के प्रक्षेपण-पथ का आधार पृथ्वी का गुरुत्वक्षेत्र है वर्त्तमान प्रसंग मे केवल इतना ही स्मरण रखना पर्याप्त होगा कि सौर-जगत् के भीतर अन्य ग्रहों की यात्रा के लिए जिस न्यूनतम गति-वेग की प्राप्ति आवश्यक है वह है ११.२ किलोमीटर (७ मील) प्रति सेकेण्ड की परवलीय गति। इसी को पृथ्वी की 'विपलायन गति' कहते है, क्योंकि यही वह न्यूनतम आवश्यकीय गति है, जिससे चलने पर ही कोई वस्तु पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की पकड़ मे मुक्त हो सकती है।

अब यहां दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। एक यह कि ७ मील प्रति सेकेण्ड की जो पार्थिव परवलीय गति है, वह पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होने भर के लिए ही पर्याप्त है। जरूरी नहीं कि इस गति वेग से किसी अन्य ग्रह विशेष तक पहुँचना भी सम्भव हो। दूसरी यह कि केवल इतने गति-वेग से छूटने वाली वस्तु अन्ततः या तो सूर्य में जा गिरेगी, अथवा उसके चतुर्दिक् एक कृत्रिम ग्रह के रूप में परिक्रमण करने लगेगी।

मंगल-यात्रा

इस क्षेत्र में सबसे पहले मंगल की यात्रा को ले लीजिए। क्योंकि मंगल ही सम्भवतः सौर-जगत् के भीतर दूसरी बसी हुई दुनियां है एक दुनिया तो हमारी पृथ्वी है ही। वैज्ञानिकों ने गणना कर देखा है कि मंगल-लोक तक पहुँचने के लिए पृथ्वी के गुरुत्व-क्षेत्र से बाहर कम से कम २.९ किलोमीटर प्रति सेकेण्ड का गति-वेग (पृथ्वी के सापेक्ष से) शेष रहना चाहिए। इस आधार पर पृथ्वी-मंगल यात्रा के लिए न्यूनतम आवश्यक गति-वेग का पूरा सूत्र इस प्रकार निकाला जाता है—

$\sqrt{}$ ११.२—२.९=११.६ किलोमीटर प्र. से

बस, यही मंगल यात्रा के लिए पृथ्वी से छूटने की न्यूनतम आवश्यक गति है, अर्थात् इससे कम गति-वेग से मंगल की यात्रा सम्भव नहीं है। इस गति-वेग से छूटने वाले यान का यात्रा-पथ पृथ्वी की कक्षीय गति की दिशा में एक ऐसी स्पर्श-रेखा का रूप धारण कर सकता है, जो पृथ्वी और मंगल की कक्षाओं को छूती भर हो.

ऐसी यात्रा से मार्ग के प्रारम्भिक और अन्तिम चरण, अर्थात् पृथ्वी और मंगल, सूर्य के विभिन्न पक्षों पर स्थित है, तथा यात्रा-पथ पृथ्वी के सापेक्ष में परवलीय और सूर्य के सापेक्ष में दीर्घवृत्तीय है। यह मंगल-यात्रा का सर्वाधिक सुविधापूर्ण और सुगम मार्ग है, क्योंकि इसमें पृथ्वी की कक्षीय गति की पूरी सहायता प्राप्त होती है, और इसीलिए न्यूनतम आवश्यक गति, जिसका अर्थ है कम-से-कम ईंधन-व्यय, पर्याप्त है, यद्यपि दूरी की दृष्टि से यही सबसे दीर्घ मार्ग है। यह मार्ग कोई ४० करोड़ मील लम्बा होगा, और इसमें जाने में २४० से २७० पार्थिव दिनों के बराबर समय लगेगा।

यदि न्यूनतम आवश्यक गति से कुछ अधिक गति प्राप्त की जाए, तो यात्रा समय में काफी कमी हो सकती है। यह कमी एक तो स्वयं गति-वेग के ही तीव्रतर होने से घटती है, और दूसरे इस कारण कि गति में वृद्धि से यात्रा-पथ भी छोटा हो जाता है। यदि यान को अपरिमित गति प्रदान की जा सके, तो यात्रा-पथ बड़ी हद तक वह लघुतम रूप भी धारण कर सकता है, जिसे पृथ्वी और मंगल के बीच की न्यूनतम दूरी की सरल रेखा कहना चाहिए। ऐसी 'सीधी' यात्रा एक सप्ताह से भी कम समय में सम्पन्न हो सकती है, परन्तु इसके लिए जिस परिमाण में शक्ति की आवश्यकता होगी वह अभी असाध्य है।

स्पष्ट है कि इन सभी प्रकार की यात्राओं में पृथ्वी से प्रस्थान का मुहूर्त ..ानी के साथ ठीक-ठीक निश्चित करना होगा, ताकि जब तक वाहन कक्षा में पहुँचे, मंगल भी ठीक उसी स्थान पर आ उपस्थित हो। में पृथ्वी-मंगल यात्राएँ हर दो वर्ष में एक बार ही साध्य हुआ करेंगी।

अन्य ग्रहों की यात्रा

मंगल के अतिरिक्त सौर-जगत् के अन्य बाहरी ग्रहों, जैसे बृहस्पति और शनि आदि तथा उनके उपग्रहों की यात्राएँ सिद्धांत की दृष्टि से प्रायः उसी तरह सम्पन्न होंगी, जिस तरह कि मंगल की यात्रा; परन्तु शुक्र और बुध, इन दो भीतरी ग्रहों की यात्रा की विधि बिल्कुल भिन्न होगी। ये दोनों ग्रह चूँकि पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य के अधिक निकट हैं, इसलिए इन तक पहुँचने का सरलतम उपाय यही होगा कि वाहन की गति को पृथ्वी की कक्षीय गति की तुलना में कम कर दिया जाए। ऐसा करने पर वाहन पृथ्वी से पिछड़ कर अपने आप ही सूर्य की ओर गिरता चला जायेगा, यहां तक कि जब उसका पथ शुक्र अथवा बुध की कक्षा को काटेगा, तो लक्ष्य ग्रह के ठीक उसी स्थान पर उपस्थित होने से यात्रा सफल हो जायेगी।

वाहन की गति को पृथ्वी की कक्षीय गति की तुलना में कम करने का अर्थ यह है कि यात्रारम्भ की दिशा पृथ्वी-गति की दिशा के विपरीत रखी जाए। इससे सूर्य के सापेक्ष में वाहन की गति स्वतः ही कम रह जाएगी, और परिणाम-स्वरूप वह एक स्पर्श-रेखीय पथ के साथ-साथ शुक्र अथवा बुध की कक्षा तक जा पहुँचेगा। मजे की बात यह है कि इस क्षेत्र में वाहन की गति सूर्य के सापेक्ष में जितनी कम होगी, उतने ही अल्प समय में, तथा लघु-पथ से, यात्रा सम्पन्न होगी। परन्तु इसका मतलब यह भी है कि पृथ्वी के सापेक्ष में वाहन की गति अधिक रखनी होगी।

भीतरी ग्रहों की यात्राओं के विषय में एक और दिलचस्प बात यह है कि स्पर्शरेखीय सहज मार्गों से जाने में बुध की अपेक्षा शुक्र-यात्रा का पथ अधिक लम्बा होगा और समय भी अधिक लगेगा, यद्यपि, जैसा कि सब जानते हैं, सीधे अन्तर की दृष्टि से शुक्र ही पृथ्वी के अधिक निकट है।

मंगल-यात्रा की तरह शुक्र और बुध की यात्राएँ भी शुरू-शुरू में कुछ विशेष अवसरों पर ही सम्भव हुआ करेंगी। लेकिन ज्यों-ज्यों वाहनों की शक्ति और गति में वृद्धि होती जाएगी, त्यों-त्यों यह समस्या भी इतनी कठिन नहीं रहेगी। यहाँ तक कि वर्तमान पीढ़ी के जीवन-काल में ही एक समय ऐसा आने वाला है, जबकि अन्तर्ग्रहीय यात्राओं के मार्ग ठीक वैसे ही सुनिश्चित, सुव्यवस्थित और सुरक्षित हो चुके होंगे जैसे कि आज के युग में जलपोतों और वायुयानों के मार्ग हैं।

भगवतीप्रसाद तिवारी

श्री भगवतीप्रसाद ने चिकित्सा के क्षेत्र मे एण्टीबॉयटिक्स औषधि के चमत्कार का वर्णन किया है। मनुष्य चिकित्सा-विज्ञान की सहायता से रोगो पर विजय पाने में निरन्तर सफलता पाता जा रहा है। मनुष्य के स्वास्थ्य की आज सभ्यता के किसी भी पूर्व-युग से अधिक सुरक्षा की जा सकती है।

[१५]

एण्टीबायटिक्स

—भगवतीप्रसाद तिवारी

एण्टीबॉयटिक औषधियों के प्रयोग में बड़ी सावधानी, सूझ-बूझ और बुद्धि कौशल की दरकार रहती है। चिकित्सक को, संक्रमण विशेष पर, उचित एण्टी-बॉयटिक का प्रयोग, समय रहते और उचित मात्रा में करना होता है। अतः चिकित्साभ्यास में जो सबसे पहला प्रश्न उसके सामने आता है, वह है रोगाणु की सही पहचान का, यानी यह जानने का कि वह संक्रामक रोग किन विशिष्ट अणुजीवों के आक्रमण से पैदा हुआ है। चूँकि अनेक संक्रमणों के लक्षण मिलते-जुलते होते है, इसलिए चिकित्सक के लिए रोग-निदान की समस्या और भी जटिल हो जाती है। सही निदान के लिए रोगी के खून, थूक, कफ, मल-मूत्र, आदि की परीक्षा आवश्यकतानुसार करना, बहुधा उपयोगी होता है।

ड्रग आफ च्वायस

संक्रमण का सही निदान हो जाने के बाद, चिकित्सक के सामने जो दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है वह है सही एण्टीबायटिक के चयन का। डॉक्टरी भाषा में इसे 'ड्रग ऑफ च्वायस' यानी सर्वाधिक गुणकारी औषधि कहते हैं। 'ड्रग ऑफ च्वायस' का चुनाव करते समय, पहले उस एण्टीबॉयटिक को तरजीह दी जाती है, जो रोगी के शरीर में घुसे रोगाणुओं को समूल नष्ट कर सके। बात यह है कि एण्टीबॉयटिक में, संक्रमण के उन्मूलन की दो प्रकार की सामर्थ्य पायी जाती है : 'बैक्टेरिसाइडल' यानी जीवाणु-नाशक, और 'बैक्टीरियो-स्टेटिक' यानी जीवाणुस्तम्भक।

जीवाणु-नाशक शक्ति से, एक एण्टीबॉयटिक रोगाणुओं को समूल नष्ट कर सकता है। लेकिन जीवाणु-स्तम्भक एण्टीबॉयटिक रोगी के शरीर में जीवाणुओं की केवल वंशवृद्धि भर रोक देता है, उन्हें मार नहीं पाता। यह बात

दूसरी है कि जीवाणुओं की सख्या-वृद्धि रुक जाने पर, शरीर को रक्षात्मक शक्तियाँ स्वयं जुट कर उन जीवाणुओं को नष्ट कर देती हैं। एक उदाहरण लीजिये, यौन रोगों यानी सूजाक-गर्मी के लिए पेनिसिलिन ही जीवाणु-नाशक एण्टीबायटिक है; अन्य एण्टीबॉयटिक जीवाणु-स्तम्भक मात्र हैं। अतः इन रोगों के इलाज में, पेनिसिलिन ही 'ड्रग आफ च्वायस' माना गया है अन्य एण्टी-बॉयटिक्स तब इस्तेमाल किये जाते है, जब पेनिसिलिन का प्रयोग रोगी पर नहीं किया जा सकता।

गलत चुनाव से खतरा

यहाँ यह न भूलना चाहिए कि गलत एण्टीबॉयटिक का चुनाव हानिकर; और कभी-कभी घातक तक सिद्ध हो सकता है। गलत दवा देते रहने मे जो समय नष्ट किया जाता है, उसका उपयोग रोगाणु अपने गुणन के लिए करते हैं। यह याद रखना चाहिए कि शरीर के किसी भी भाग में एक बार प्रविष्ट हो जाने के बाद, रोगाणु वहा सदा के लिए चुप नहीं बैठे रहते। अनुकूल स्थिति के मिलते ही वे अपना गुणन (मल्टिप्लिकेशन) शुरू कर देते है। जैसे-जैसे रोगाणुओं की सख्या-वृद्धि होती है, वैसे-वैसे रोग भी उग्र रूप धारण करने लगता है, और रोगाणुओं के और आगे बढने का (शरीर में ही) मौका पैदा होता है। अतः संक्रमणों के मामले में यह कदापि न भूलना चाहिए कि शरीर के भीतर रोगाणुओं के बढने का ज्यादा मौका न दिया जाय; जरूरत इस बात की रहती है कि सक्रमण को शीघ्रातिशीघ्र मूलोच्छेदित कर दिया जाय।

मात्रा एवं कालान्तर

एण्टीबॉयटिक-चिकित्सा में रोगाणुओं की सही पहचान और 'ड्रग आफ च्वायस' के चुनाव के बाद तीसरी जरूरी बात है औषधि की ठीक मात्रा और उसे देने के समयान्तर का निश्चय। यह बात भी उतनी ही जरूरी है जितनी कि पहली दोनों। सही मात्रा में एण्टीबॉयटिक न देने अथवा मात्रएं सही देते हुए भी उनके कालान्तर में गड़बड़ करने से भारी नुकसान का डर रहता है। संक्रमण-कारी अणुजीव, निश्चित से कम मात्रा में दिये जाने वाले एण्टीबॉयटिक के

प्रतिरोध (रेजिस्टेंस) की शक्ति विकसित करने लगते हैं, जो इस प्रकार की हर गलती से और बढ़ती जाती है। धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ पहुँचती जब उस रोगाणु पर उस औषधि का असर ही नहीं होता, और अगर होता भी है तो अपर्याप्त।

ऐसी हालत में, औषधि की मात्रा निश्चित से अधिक बढ़ा कर देने की कोशिश होती है। किन्तु एण्टीवॉयटिक जैसी सशक्त दवाओं की खुराकें, एक सीमा के भीतर तक ही बढ़ायी जा सकती हैं। बहुत ज्यादा मात्रा में वे विषाक्त हो जाती हैं और उनमें गुर्दे, यकृत्, मज्जा, रस, रक्त, आदि शरीर के महत्वपूर्ण आंतरिक अंगों एवं धातुओं के कुपित एवं क्षत होने का डर रहता है।

कन्सन्ट्रेशन लेवेल

मात्रा से हमारा तात्पर्य, मुँह से खाने वाली अथवा सुई (इंजेक्शन) से लेने वाली, दोनों ही प्रकार की मात्राओ का है। एण्टीवॉयटिक्स की मात्राएं, और कितने-कितने घंटे बाद वे दी जायेंगी—इस कालान्तर का निश्चय, बहुत सोच समझकर करना होता है। वैसे हर एण्टीवॉयटिक की मात्राएं प्रायः निश्चित सी है। लेकिन गम्भीर अवस्थाओं में मात्रा बढ़ायी और कालान्तर घटाया जा सकता है। ध्यान इस बात का रखना होता है कि रोगी के रक्त में औषधि के गढ़ाव का स्तर (कन्सन्ट्रेशन-लेवेल) इतना रहे जो रोगाणु-नाशन के लिए पर्याप्त हो। मात्रा कम या कालान्तर अधिक कर देने से, गढ़ाव का स्तर गिरने लगता है। परिणामस्वरूप, औषधि द्वारा रोगाणुओं के नाशन या आरोधन की गति मंद और इसके उल्टे, उनके संख्या-संवर्धन की क्रिया तीव्र हो उठती है। इस प्रकार भारी संख्या में उत्पन्न रोगाणुओं के लिए औषधि की अल्प मात्रा और भी ना-काफी साबित होती है और अपना जीवन-क्रम जारी रखने के लिए, वे उससे बचाव के दूसरे (मेटा-बोलिक) रास्ते निकाल लेते हैं। रोगाणुओं की इसी प्रवृत्ति को औषधि के प्रति उनका 'प्रतिरोध' (रेजिस्टेंस) कहा गया है।

स्पेक्ट्रम

अब हम एण्टीवॉयटिक्स के 'स्पेक्ट्रम' पर कुछ कहेंगे। जितनी भी किस्में

के अणुजीवो के संक्रमणों पर कोई एण्टीबॉयटिक प्रभाव-प्रद होता है, उनकी सूची उस एण्टीबायटिक के प्रभाव-पट का बोध कराती है, जिसे 'स्पेक्ट्रम' कहा जाता है। ये प्रभावपट, हरेक एण्टीबायटिक के लिए अलग-अलग होते हुए भी आपस में मिलते-जुलते होते हैं। यानी, एक ही प्रकार के संक्रामण का उपचार, कई एण्टीबॉयटिको द्वारा स्वतन्त्र रूप से किया जा सकता है। यह बात दूसरी है कि कोई एण्टीबॉयटिक किसी जाति के अणुजीवों पर ज्यादा असर करता है, और किसी दूसरी जाति के अणुजीवों पर कम। कई एण्टीबॉयटिकों मे तरह-तरह के बहु-जातीय रोगाणुओं के नाशन या आरोधन की शक्ति होती है; यानी इनका प्रभाव-पट विशाल या विस्तीर्ण होता है। इन्हें 'ब्राडस्पेक्ट्रम' (विस्तीर्ण-पट) एण्टीबॉयटिक कहा जाता है। क्लोरोमाइसिटिन, ऐसा ही एण्टीबॉयटिक है। टेरामाइसिन, एक्रोमाइसिन और एयरोमाइसिन भी विस्तीर्ण-पट एण्टीबॉयटिक हैं, और एक ही प्रकृतिवाले होने के कारण 'टेट्रासाइक्लिन ग्रुप' के एण्टीबॉयटिक कहाते हैं।

प्रतिक्रियाएँ

एण्टीबॉयटिकों के सेवन से शरीर की प्रतिक्रियाएँ (रि-एक्शन) मुख्यतः दो किस्म की होती है — (१) टाक्सिक, और (२) अलेर्जिक। टाक्सिक यानी विपाक्त-प्रतिक्रियाएँ वे है जो एण्टीबायटिक की रासायनिक विपाक्तता के कारण शरीर द्वारा उसके प्रकट विरोध के रूप में उत्पन्न हों। वे औषधि की रासायनिक क्रियाशीलता के प्रति, शरीर की स्वाभाविक प्रतिक्रिया की द्योतक है। वे केवल एण्टीबॉयटिकों के प्रयोग मे ही नहीं, बल्कि अनेक अन्य रासायनिक द्रव्यों के प्रयोग से भी संभव है, और विविध लक्षणो के रूप में, न्यूनाधिक वेग से उत्पन्न हो सकती हैं।

यह वेग नम्र, गभीर अथवा भीषण लक्षणों के रूप धारण कर सकता है। उदित लक्षणों की नम्रता या उग्रता, औषधि की मात्रा, सेवन-अवधि, और स्वय औषधि की विपाक्तता की डिग्री पर अवलम्बित होती है। कुछ एण्टी-बॉयटिक्स कम विपाक्त है, कुछ अधिक, कुछ और अधिक। विपाक्त प्रतिक्रियाएँ स्वय दो प्रकार की होती है — स्थानिक (लोकल) और सांस्थानिक (सिस्ट-

मिक) । स्थानिक प्रतिक्रिया औषधि के प्रवेशन-मार्ग या सूची-वेधन के स्थल पर प्रकट होती है । सास्थानिक प्रतिक्रियाओं में शरीर का कोई भीतरी भाग क्षतिग्रस्त हो सकता है, जैसे गुर्दो को नुकसान पहुँच सकता है, अथवा शरीर की रक्त-सर्जिनी व्यवस्था व्यतिक्रमित हो सकती है ।

'क्लोरम्फेनिकोल' और 'स्ट्रेप्टोमाइसिन' विषाक्त एण्टीबॉयटिक्स हैं, अतः इनका सेवन सावधानी से होना चाहिए । इनकी विषाक्तता से अस्थि-मज्जा की रक्त-सर्जिनी शक्ति दब जा सकती है । स्ट्रेप्टोमाइसिन तो, स्नायविक क्षति पहुँचा सकने के लिए बदनाम भी हो चुकी है । लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि ये दोनों एण्टीबॉयटिक्स त्याज्य हैं; वस्तुतः ये बड़े काम के हैं, और प्रयोग में बहुत ज्यादा आते हैं । केवल मात्रा आदि के बारे में सावधान रहना होता है ।

'अलर्जी' का अर्थ होता है परिवर्तित प्रतिक्रियत्व' (आल्टर्ड रिएक्टिविटी) का । अलर्जिक प्रतिक्रियाएँ एण्टीबॉयटिक या अन्य औषधि की किसी विषाक्तता पर नहीं, बल्कि उसके प्रति रोगी विशेष की विशिष्टोन्मुखी संवेदकता (स्पेसिफिक सेंसिटिविटी) पर निर्भर करती है । 'रोगी विशेष की' इसलिए, क्योंकि दूसरे सामान्य रोगियों में उसी एण्टीबॉयटिक या औषधि से, इस प्रकार की कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती । उसकी उत्पत्ति उन्हीं रोगियों में होती है, जो पहले उस औषधि से संवेदित (सेंसिटाइज्ड) हो चुके हों, अथवा उनमें पहले से ही उस औषधि के प्रति प्रकृत संवेदकत्व मौजूद हो ।

अलर्जिक प्रतिक्रियाएँ पेनिसिलिन और सल्फा-जातीय औषधियों के सेवन में अधिक देखी गयी हैं । ये भी स्थानिक, या सास्थानिक, और नम्र या उग्र हो सकती हैं ! ज्वर, जोड़ों का दर्द, कई तरह के त्वचा-कोप (स्किन इरप्शंस) अर्टिकेरिया (रिसपित्ती), आँखों की ललाई व सूजन, आदि संवेदकताजन्य प्रतिक्रियाओं के ही रूप हैं । चिकित्साभ्यास में ये सामान्यतः देखने को मिलते हैं, और दवा बन्द कर देने या अन्य उपायों से प्रायः शान्त हो जाते हैं ।

अनाफिलेक्टिक शॉक

यह अलर्जिक प्रतिक्रियाओं के ही अन्तर्गत आता है, और बड़ा ही खतर-

...नाक होता है । नम्र हुआ तो रोगी बचता है, और उग्र हुआ तो यह प्रायः 'अनिवारणीय' हो जाता है । सतोप की बात है कि स्तब्ध एव आतंकित कर देने वाली यह प्रचंड प्रतिक्रिया केवल पेनिसिलिन मे ही उत्पन्न होती देखी गयी है, और वह भी कभी-कदार किसी विरले रोगी मे ही। किन्तु फिर भी, इसकी रिपोर्ट यदा-कदा सुनने मे आती रहती है ।

इसे हम पेनिसिलिन का कलक कह सकते है । प्रचड रूप मे यह प्रतिक्रिया डॉक्टरो के भी हाथ-पैर फुला देती है । इसके शमन के लिए दवाएँ है, पर वे प्रतिक्रिया उत्पन्न होते ही, तत्क्षण दी जानी चाहिए, शायद एक-दो मिनट के अन्दर ही । देरी होने से रोगी का काम तमाम हो जाता है। इसी प्रतिक्रिया के भय से चिकित्सकों मे प्रायः अब नियम-सा हो गया है कि जिस किसी को भी पेनिसिलिन से कभी भी कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई हो, चाहे वह हल्की ही हो, फिर भी उसे पेनिसिलिन न दी जानी चाहिए । पेनिसिलिन देते समय, इस प्रतिक्रिया को तत्क्षण रोक के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए, ऐसा अनेक चिकित्साचार्यो का मत है ।

सब सक्रमणों पर नही

अन्त मे हम यह बात फिर दोहरा देना चाहते है कि एण्टीबॉयटिक द्रव्य केवल सक्रमणो की दवा है, वह भी सारे सक्रमणो की नही जैसे 'वाइरस' (विषाणु) से उत्पन्न होने वाले सक्रमणो पर अधिकतर एण्टीबॉयटिक्स का प्रभाव नहीं होता । टेट्रासाइक्लिन ग्रूप के तीनो एण्टीबायटिक्स—एक्रोमाइसिन, टेरा-माइसिन और एयरोमाइसिन—जरूर कुछेक प्रकार के विषाणु-जन्य संक्रमणो पर थोडा-बहुत असर करते है, पर सब पर नहीं । अतः स्पष्ट है कि चेचक (स्माल पॉक्स) खसरा (मीजल्स), हूपिंग-कफ (काली खाँसी), कॉमन कोल्ड (आम जुकाम), आदि विषाणु-जन्य सक्रमणो का मूलोच्छेदन, एण्टीबायटिक्स से नहीं हो सकता । ऐसे रोगो मे जब कभी किसी एण्टीबॉयटिक का प्रयोग डाक्टर करते भी है, तो वह केवल द्वयिक सक्रमणो (सेकेण्डरी इन्फेक्शंस) से एहतियाती बचाव के लिए होता है । कारण, एक सक्रमण की ही हालत मे, दूसरे सक्रमण

की ही हालत में; दूसरे संक्रमण के पैदा हो जाने का खतरा अवसर पैदा हो जाता है।

सब वयों में नहीं

एक और अति महत्वपूर्ण बात, जिसे अनेक व्यक्ति शायद, न समझ कर भ्रम में रहते हैं, यह है कि एण्टीबॉयटिक्स सदैव ही और सब उम्रों में एक-समान असर नहीं करते। यदि मनुष्य के शरीर का संक्रमण, उपचार में विलम्ब से पुराना होकर गम्भीर अवस्था को पहुँच चुका है तो इन औषधियों का असर जोरदार न होगा; हो सकता है कुछ भी न हो। इसी प्रकार वृद्धावस्था में इनका पूरा असर नहीं होता। कारण यह है कि एण्टीबायटिक को रोगी के रक्त में मिलकर, उसके शरीर के संक्रमित भाग उन्हें कुछ समय तक के लिए पर्याप्त रूप में पहुँचने का समय मिलना चाहिए। संक्रमित भाग से तात्पर्य है शरीर के उस अंग या उपांग से, जिस पर कि रोगकारी जीवाणु अपना डेरा कुछ दिन पहले डाल चुके थे, लेकिन अब वे वहाँ बढ़ना और फैलना चाहते हैं; ऐसे में, इन्जेक्शन द्वारा रोगी के शरीर में प्रविष्ट किया गया एण्टीबॉयटिक, रक्त-धार में मिल कर उस जगह पहुँचता है, जहाँ कि इस धावे की तैयारी हो रही है। वहाँ पहुँच कर एण्टीबायटिक की जीवाणु-संहारिणी-शक्ति अपना कमाल दिखाती है, और अपने विषों से मानव-शरीर को रोग-ग्रस्त करने वाले रोगाणुओं के (यानी संक्रमण के) नष्टीकरण का क्रम आरम्भ हो जाता है। किन्तु यह क्रम आरम्भ होने के बाद उसे कुछ काल तक चलते रहने का समय भी तो होना चाहिए। यदि रोगी की दशा गम्भीर हो चुकी है, और उपचार में अनावश्यक विलम्ब या भूलें की गयी हैं, तो उसका दुःखद फल रोगी को भुगतना होता है।

इसी प्रकार वृद्धावस्था में शरीर में रक्त की मात्रा कम और संचार धीमा पड़ जाता है। अतः शरीर में रक्त-प्रवाह की गति मंद एवं शिथिल हो जाती है फलतः संक्रमित भाग में एण्टीबॉयटिक—घुले रक्त का संचार तीव्रता से नहीं